राजनीतिक सिद्धांत

कक्षा 11 के लिए पाठ्यपुस्तक

विषय-सूची

आमुख *iii*

अध्याय 1 1–16
राजनीतिक सिद्धांत – एक परिचय

अध्याय 2 17–30
स्वतंत्रता

अध्याय 3 31–51
समानता

अध्याय 4 52–64
सामाजिक न्याय

अध्याय 5 65–76
अधिकार

अध्याय 6 77–93
नागरिकता

अध्याय 7 94–106
राष्ट्रवाद

अध्याय 8 107–124
धर्मनिरपेक्षता

अध्याय 9 125–137
शांति

अध्याय 10 138–152
विकास

अध्याय 1

राजनीतिक सिद्धांत– एक परिचय

राजनीतिक सिद्धांत एक परिचय

मनुष्य दो मामलों में अद्वितीय है– उसके पास विवेक होता है और अपनी गतिविधियों में उसे व्यक्त करने की योग्यता होती है। उसके पास भाषा का प्रयोग और एक–दूसरे से संवाद करने की क्षमता भी होती है। अन्य प्राणियों से इतर, मनुष्य अपने अंतरतम भावनाओं और आकांक्षाओं को व्यक्त कर सकता है; वह जिन्हें अच्छा और वांछनीय मानता है, अपने उन विचारों का साझा कर सकता है और उन पर चर्चा कर सकता है। राजनीतिक सिद्धांत की जड़ें मानव अस्मिता के इन जुड़वा पहलुओं में होती हैं। यह कुछ खास बुनियादी प्रश्नों का विश्लेषण करता है। जैसे, समाज को कैसे संगठित होना चाहिए? हमें सरकार की ज़रूरत क्यों है? सरकार का सर्वश्रेष्ठ रूप कौन–सा है? क्या कानून हमारी आज़ादी को सीमित करता है? राजसत्ता की अपने नागरिकों के प्रति क्या देनदारी होती है? नागरिक के रूप में एक–दूसरे के प्रति हमारी क्या देनदारी होती है?

राजनीतिक सिद्धांत इस तरह के प्रश्नों की पड़ताल करता है और राजनीतिक जीवन को अनुप्राणित करने वाले स्वतंत्रता, समानता और न्याय जैसे मूल्यों के बारे में सुव्यवस्थित रूप से विचार करता है। यह इनके और अन्य संबद्ध अवधारणाओं के अर्थ और महत्त्व की व्याख्या करता है। यह अतीत और वर्तमान के कुछ प्रमुख राजनीतिक चिंतकों को केंद्र में रखकर इन अवधारणाओं की मौजूदा परिभाषाओं को स्पष्ट करता है। यह विद्यालय, दुकान, बस, ट्रेन या सरकारी कार्यालय जैसी दैनिक जीवन से जुड़ी संस्थाओं में स्वतंत्रता या समानता के विस्तार की वास्तविकता की परख भी करता है। और आगे जाकर, यह देखता है कि वर्तमान परिभाषाएँ कितनी उपयुक्त हैं और कैसे वर्तमान संस्थाओं (सरकार, नौकरशाही) और नीतियों के अनुपालन को अधिक लोकतांत्रिक बनाने के लिए उनका परिमार्जन किया जाय। राजनीतिक सिद्धांत का उद्देश्य नागरिकों को राजनीतिक प्रश्नों के बारे में तर्कसंगत ढंग से सोचने और सामयिक राजनीतिक घटनाओं को सही तरीके से आँकने का प्रशिक्षण देना है।

इस अध्याय में हम परखेंगे कि राजनीति और राजनीतिक सिद्धांत का अर्थ क्या है और हमें इसका अध्ययन क्यों करना चाहिए?

1.1 राजनीति क्या है?

> **वाद-विवाद-संवाद**
>
> **राजनीति क्या है?**

आपने देखा होगा कि लोग राजनीति के बारे में अलग–अलग राय रखते हैं। राजनेता और चुनाव लड़ने वाले लोग अथवा राजनीतिक पदाधिकारी कह सकते हैं कि राजनीति एक प्रकार की जनसेवा है। राजनीति से जुड़े अन्य लोग राजनीति को दावपेंच से जोड़ते हैं तथा आवश्यकताओं और महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के कुचक्र में लगे रहते हैं। कई अन्य के लिए राजनीति वही है, जो राजनेता करते हैं। अगर वे राजनेताओं को दल–बदल करते, झूठे वायदे और बढ़े–चढ़े दावे करते, विभिन्न तबकों से

जोड़तोड़ करते, निजी या सामूहिक स्वार्थों में निष्ठुरता से रत और घृणित रूप में हिंसा पर उतारू होता देखते हैं तो वे राजनीति का संबंध 'घोटालों' से जोड़ते हैं। इस तरह की सोच इतनी प्रचलित है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जब हम हर संभव तरीके से अपने स्वार्थ को साधने में लगे लोगों को देखते हैं, तो हम कहते हैं कि वे राजनीति कर रहे हैं। यदि हम एक क्रिकेटर को टीम में बने रहने के लिए जोड़तोड़ करते या किसी सहपाठी को अपने पिता की हैसियत का उपयोग करते अथवा दफ़्तर में किसी सहकर्मी को बिना सोचे-समझे बॉस की हाँ में हाँ मिलाते देखते हैं, तो हम कहते हैं कि वह 'गंदी' राजनीति कर रहा है। स्वार्थपरकता के ऐसे धंधों से मोहभंग होने पर हम राजनीति से हताश हो जाते हैं। हम कहने लगते हैं "मुझे राजनीति में रुचि नहीं है या मैं राजनीति से दूर रहता हूँ।" केवल साधारण लोग ही राजनीति से निराश नहीं हैं, बल्कि इससे लाभांवित होने और विभिन्न राजनीतिक दलों को चंदा देने वाले व्यवसायी और उद्यमी भी अपनी मुसीबतों के लिए आये दिन राजनीति को कोसते रहते हैं।

टाइम्स ऑफ इंडिया- आर. के. लक्ष्मण

आपको तुरंत राजनीति से सन्यास ले लेना चाहिए। आपके काम-काज़ का इस पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है। वह सोचता है कि वह झूठ और धोखाधड़ी से काम चला सकता है।

सिनेमा के कलाकार भी अक्सर राजनीति की बुराई करते हैं। यह अलग बात है कि जैसे ही वे इस खेल में सम्मिलित होते हैं वैसे ही वे अपने को इस खेल की ज़रूरतों के अनुसार ढाल लेते हैं।

इस प्रकार हमारा सामना राजनीति की परस्पर विरोधी छवियों से होता है। क्या राजनीति अवांछनीय गतिविधि है, जिससे हमें अलग रहना चाहिए और पीछा छुड़ाना चाहिए? या यह इतनी उपयोगी गतिविधि है कि बेहतर दुनिया बनाने के लिए हमें इसमें निश्चित ही शामिल होना चाहिए?

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि राजनीति का संबंध किसी भी तरीके से निजी स्वार्थ साधने के धंधे से जुड़ गया है। हमें समझने की ज़रूरत है कि राजनीति किसी भी समाज का महत्त्वपूर्ण और अविभाज्य अंग है। महात्मा गांधी ने एक बार टिप्पणी की थी कि राजनीति ने हमें साँप की कुंडली की तरह जकड़ रखा है और इससे जूझने के सिवाय कोई अन्य रास्ता नहीं है। राजनीतिक संगठन और सामूहिक निर्णय के किसी ढाँचे के बगैर कोई भी समाज ज़िंदा नहीं रह सकता। जो समाज अपने अस्तित्व को बचाए रखना चाहता है, उसके लिए अपने सदस्यों की विविध ज़रूरतों और हितों का खयाल रखना आवश्यक होता है। परिवार, जनजाति और आर्थिक संस्थाओं जैसी अनेक सामाजिक संस्थाएँ लोगों की ज़रूरतों और आकांक्षाओं को पूरा करने में सहायता करने के लिए पनपी हैं। ऐसी संस्थाएँ हमें साथ रहने के उपाय खोजने और एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यों को कबूलने में मदद करती हैं। इन संस्थाओं के साथ सरकारें भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सरकारें कैसे बनती

आओ अख़बार बाँचे।
वे कौन-से मुद्दे हैं जो समाचारों के प्रमुख शीर्षकों के रूप में छाए हुए हैं? क्या आपको लगता है कि आपके लिए उनकी कोई प्रासंगिकता है?

हैं और कैसे कार्य करती हैं, यह राजनीति में दर्शाने वाली महत्त्वपूर्ण बातें है।

लेकिन राजनीति सरकार के कार्यकलापों तक ही सीमित नहीं होती है। दरअसल, सरकारें जो भी करती हैं वह प्रासंगिक होता है क्योंकि वह लोगों के जीवन को भिन्न-भिन्न तरीकों से प्रभावित करता है। हम देखते हैं कि सरकारें हमारी आर्थिक नीति, विदेश नीति और शिक्षा नीति को निर्धारित करती हैं। ये नीतियाँ लोगों के जीवन को उन्नत करने में सहायता कर सकती हैं, लेकिन एक अकुशल और भ्रष्ट सरकार लोगों के जीवन और सुरक्षा को संकट में भी डाल सकती है। अगर सत्तारूढ़ सरकार जातीय और सांप्रदायिक संघर्ष को हवा देती है तो बाज़ार और स्कूल बंद हो जाते हैं। इससे हमारा जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, हम अत्यंत ज़रूरी चीज़ें भी नहीं खरीद सकते, बीमार लोग अस्पताल नहीं पहुँच सकते, स्कूल की समय-सारणी भी प्रभावित हो जाती है, पाठ्यक्रम पूरा नहीं हो पाता और हमें परीक्षा के लिए अतिरिक्त कोचिंग और उसके लिए अतिरिक्त ट्यूशन फ़ीस चुकानी पड़ती है। दूसरी ओर, सरकार अगर साक्षरता और रोजगार बढ़ाने की नीतियाँ बनाती है तो हमें अच्छे स्कूल में जाने और बेहतर रोजगार पाने के अवसर मिल सकते हैं।

चूँकि सरकार की कार्रवाइयों का हम पर गहरा असर पड़ता है, हम सरकार के कामों में खूब दिलचस्पी लेते हैं। हम संस्थाएँ बनाते हैं और अपनी माँगें जोड़ने के लिए प्रचार अभियान चलाते हैं। हम दूसरों से बातचीत करते हैं और सरकार के निर्धारित लक्ष्यों को आकार देने का प्रयास करते हैं। जब हम सरकार की नीतियों से असहमत होते हैं तो हम विरोध करते हैं और वर्तमान कानून को बदलने के लिए अपनी सरकारों को राजी करने हेतु प्रदर्शन आयोजित करते हैं। हम अपने प्रतिनिधियों की गतिविधियों पर जोश के साथ वाद-विवाद और विचार-विमर्श करते हैं कि भ्रष्टाचार बढ़ा या घटा। हम पूछते हैं कि क्या भ्रष्टाचार को जड़ से मिटाया जा सकता है? क्या किसी खास समूह के लिए आरक्षण न्यायसंगत है या नहीं? हम यह समझने का प्रयास करते हैं कि क्यों कोई पार्टी और नेता चुनाव जीतते हैं। इस तरीके से हम मौजूदा अव्यवस्था और पतन के तर्कसंगत कारण तलाशते हैं और एक बेहतर दुनिया रचने की आकांक्षा करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि राजनीति का जन्म इस तथ्य से होता है कि हमारे और हमारे समाज के लिए क्या उचित एवं वांछनीय है और क्या नहीं। इस बारे में हमारी दृष्टि अलग-अलग होती है। इसमें समाज में चलने वाली बहुविध वार्ताएँ शामिल हैं, जिनके माध्यम से सामूहिक निर्णय किए जाते हैं। एक स्तर से इन वार्ताओं में सरकारों के कार्य और इन कार्यों का जनता से जुड़ा होना शामिल

आओ कुछ करके सीखें
राजनीति हमारे दैनिक जीवन पर किस तरह असर डालती है? अपने जीवन की एक दिन की घटनाओं का विश्लेषण कीजिए।

होता है, तो दूसरे स्तर से जनता का संघर्ष और उसके निर्णय लेने पर संघर्ष का प्रभाव। जब जनता आपस में वार्ता करती है और उन सामूहिक गतिविधियों में भाग लेती है जो सामाजिक विकास को बढ़ावा देने और सामान्य समस्याओं के समाधान में मदद करने के उद्देश्य से तैयार की गई होती है तब कहा जा सकता है कि जनता राजनीति में संलग्न है।

वाद-विवाद-संवाद

क्या विद्यार्थियों को राजनीति में भाग लेना चाहिए?

1.2 राजनीतिक सिद्धांत में हम क्या पढ़ते हैं?

यदि हम अपने आसपास देखें तो हमें आंदोलन, विकास और परिवर्तन दिखेगा। लेकिन अगर हम गहराई से गौर करें, तो हमें यह भी दिखेगा कि निश्चित मूल्य और सिद्धांतों ने जनता को प्रोत्साहित किया और नीतियों को निर्देशित किया है। लोकतंत्र, स्वतंत्रता या समानता ऐसे ही आदर्श सिद्धांत हैं। विभिन्न देश ऐसे मूल्यों को अपने संविधान में प्रतिस्थापित कर उनकी हिफाजत करने का प्रयास करते हैं जैसा कि, अमेरिकी और भारतीय संविधानों में किया गया है।

हालाँकि इन संवैधानिक दस्तावेज़ों की उत्पत्ति रातोंरात नहीं हुई। इनका निर्माण उन विचारों और सिद्धांतों के आधार पर हुआ, जिन पर कौटिल्य और अरस्तू से लेकर ज्यांजॉक रूसो, कार्ल मार्क्स, महात्मा गांधी और डॉ. बी. आर. अंबेडकर तक के समय से वाद-विवाद होता आया है। बहुत पहले, ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में प्लूटो और अरस्तू ने अपने विद्यार्थियों से विचार-विमर्श किया था कि राजतंत्र और लोकतंत्र में कौन-सा तंत्र बेहतर है। आधुनिक काल में सबसे पहले रूसो ने सिद्ध किया कि स्वतंत्रता मानव मात्र का मौलिक अधिकार है। कार्ल मार्क्स ने तर्क दिया कि समानता भी उतनी ही निर्णायक होती है, जितनी कि स्वतंत्रता। अपने देश में, गांधी जी ने अपनी पुस्तक **हिंद-स्वराज** में वास्तविक स्वतंत्रता या **स्वराज** के अर्थ की विवेचना की। अंबेडकर ने ज़ोरदार तरीके से तर्क रखा कि अनुसूचित जातियों को अल्पसंख्यक माना जाना चाहिए और उन्हें विशेष संरक्षण मिलना चाहिए। इन विचारों ने भारतीय संविधान की प्रस्तावना में स्वतंत्रता और समानता को प्रतिष्ठित किया। भारतीय संविधान के अधिकार वाले अध्याय में किसी भी रूप में छुआछूत का निषेध किया गया और गांधी के सिद्धांतों को नीति-निर्देशक तत्त्व में शामिल किया गया।

राजनीतिक सिद्धांत उन विचारों और नीतियों को व्यवस्थित रूप को प्रतिबिंबित करता है, जिनसे हमारे सामाजिक जीवन, सरकार और संविधान ने आकार ग्रहण किया है। यह स्वतंत्रता, समानता, न्याय, लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता जैसी अवधारणाओं का अर्थ स्पष्ट करता है। यह कानून का राज, अधिकारों का बँटवारा और

ऐसे किसी भी राजनीतिक चिंतक के बारे में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए जिसका उल्लेख अध्याय में किया गया है। (50 शब्द)

न्यायिक पुनरावलोकन जैसी नीतियों की सार्थकता की जाँच करता है। यह इस काम को विभिन्न विचारकों द्वारा इन अवधारणाओं के बचाव में विकसित युक्तियों की जाँच-पड़ताल के ज़रिये करता है। हालाँकि रूसो, मार्क्स या गांधी जी राजनेता नहीं बन पाए लेकिन उनके विचारों ने हर जगह पीढ़ी-दर-पीढ़ी राजनेताओं को प्रभावित किया। साथ ही ऐसे बहुत से समकालीन विचारक हैं, जो अपने समय में लोकतंत्र या स्वतंत्रता के बचाव के लिए उनसे प्रेरणा लेते हैं। विभिन्न तर्कों की जाँच-पड़ताल के अलावा राजनीतिक सिद्धांतकार हमारे ताज़ा राजनीतिक अनुभवों की छानबीन भी करते हैं और भावी रुझानों तथा संभावनाओं को चिन्हित करते हैं।

क्या आप पहचान सकते हैं कि नीचे दिए गए प्रत्येक कथन/स्थिति में कौन-सा राजनीतिक सिद्धांत/मूल्य प्रयोग में आया है।

(क) मुझे विद्यालय में कौन-सा विषय पढ़ना है, यह तय करना मेरा अधिकार होना चाहिए।

(ख) छुआछूत की प्रथा का उन्मूलन कर दिया गया है।

(ग) कानून के समक्ष सभी भारतीय समान हैं।

(घ) अल्पसंख्यक समुदाय के लोग अपनी पाठशालाएँ और विद्यालय स्थापित कर सकते हैं।

(ड.) भारत की यात्रा पर आए हुए विदेशी, भारतीय चुनाव में मतदान नहीं कर सकते।

(च) मीडिया या फिल्मों पर कोई भी सेंसरशिप नहीं होनी चाहिए।

(छ) विद्यालय के वार्षिकोत्सव की योजना बनाते समय छात्र-छात्राओं से सलाह ली जानी चाहिए।

(ज) गणतंत्र दिवस के समारोह में प्रत्येक को भाग लेना चाहिए।

लेकिन क्या यह सब, अब हमारे लिए प्रासंगिक है? क्या अब हम स्वतंत्रता और लोकतंत्र प्राप्त नहीं कर चुके हैं? भारत सचमुच स्वायत और स्वतंत्र है, हालाँकि स्वतंत्रता और समानता से संबंधित प्रश्नों का उठना बंद नहीं हुआ है। ऐसा इसलिए कि स्वतंत्रता, समानता तथा लोकतंत्र से संबंधित मुद्दे सामाजिक जीवन के अनेक मामलों में उठते हैं और विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग रफ़्तार से उनकी बढ़ोतरी हो रही है। उदाहरण के लिए, राजनीतिक क्षेत्र में समानता समान अधिकारों के रूप में बनी है, लेकिन यह आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में उसी तरह नहीं है। लोगों के पास समान राजनीतिक अधिकार हो सकते हैं, लेकिन हो सकता है कि समाज में उनके साथ जाति या गरीबी के कारण अभी भी भेदभाव होता हो। संभव है कि कुछ लोगों को समाज में विशेषाधिकार प्राप्त हो, वहीं कुछ

दूसरे बुनियादी आवश्यकताओं तक से वंचित हों। कुछ लोग अपना मनचाहा लक्ष्य पाने में सक्षम हैं, जबकि कई लोग भविष्य में अच्छा रोजगार पाने के लिए जरूरी स्कूली पढ़ाई में भी अक्षम हैं। उनके लिए स्वतंत्रता अभी भी दूर का सपना है।

दूसरे, हालाँकि हमारे संविधान में स्वतंत्रता की गारंटी दी गई है, फिर भी हमें हरदम नई व्याख्याओं का सामना करना पड़ता है। यह एक तरह से खेल खेलने जैसा है। जैसे हम शतरंज या क्रिकेट खेलते हैं, तो हम सीखते हैं कि उसके नियमों की व्याख्या कैसे करनी है। इस प्रक्रिया में हम खेल के ही नये और व्यापक अर्थ खोज निकालते हैं। ठीक इसी प्रकार नई परिस्थितियों के मद्देनजर संविधान में दिए गए मौलिक अधिकारों की निरंतर पुनर्व्याख्या की जा रही है। इसकी एक बानगी तो यही है कि 'आजीविका के अधिकार' को 'जीवन के अधिकार' में शामिल करने के लिए अदालतों द्वारा उसकी पुनर्व्याख्या की गई है। सूचना के अधिकार की गारंटी एक नए कानून द्वारा की गई है। समाज बार-बार नई चुनौतियों का सामना करता है। इस क्रम में नई व्याख्याएँ पैदा होती हैं। समय के साथ-साथ संविधान में दिए गए मौलिक अधिकारों में संशोधन भी हुए और इनका विस्तार भी। यद्यपि न्यायिक व्याख्याएँ और सरकारी नीतियाँ नई समस्याओं का सामना करने के लिए बनाई गईं हैं।

तीसरे, जैसे-जैसे हमारी दुनिया बदल रही है, हम आज़ादी और आज़ादी पर संभावित खतरों के नए-नए आयामों की खोज कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, वैश्विक संचार तकनीक दुनिया भर में आदिवासी संस्कृति या जंगल की सुरक्षा के लिए सक्रिय कार्यकर्ताओं का एक-दूसरे से तालमेल करना आसान बना रही है। पर इसने आतंकवादियों और अपराधियों को भी अपना नेटवर्क कायम करने की क्षमता दी है। इसके अलावा, भविष्य में इंटरनेट द्वारा व्यापार में बढ़ोतरी तय है। इसका अर्थ है कि वस्तुओं अथवा सेवाओं की खरीद के लिए हम अपने बारे में जो सूचना *ऑन लाइन* दें, उसकी सुरक्षा हो। इसीलिए यूँ तो इंटरनेटजन (अंग्रेजी में इंटरनेट का इस्तेमाल करने वालों को **नेटिजन** कहा जाता है) सरकारी नियंत्रण नहीं चाहते, लेकिन वे भी वैयक्तिक सुरक्षा और गोपनीयता बनाये रखने के लिए किसी न किसी प्रकार का नियमन ज़रूरी मानते हैं। परिणामस्वरूप ये प्रश्न उठाए जाते हैं कि इंटरनेट इस्तेमाल करने वाले लोगों को कितनी स्वतंत्रता दी जानी चाहिए? क्या आप किसी अजनबी को अवांछनीय ई-मेल भेज सकते हैं? क्या आप *चैट रूम* में अपने उत्पाद का विज्ञापन कर सकते हैं? क्या सरकार आतंकवादियों का सुराग लगाने के लिए किसी के व्यक्तिगत ई-मेल में ताकझाँक कर सकती है? कितना नियमन न्यायोचित है और किसको नियमन करना चाहिए- सरकार को या कुछ स्वतंत्र नियामकों को? राजनीतिक सिद्धांत में इन प्रश्नों के संभावित उत्तरों के सिलसिले में हमारे सीखने के लिए बहुत कुछ है और इसीलिए यह बेहद प्रासंगिक है।

आओ कुछ करके सीखें

विभिन्न समाचार पत्र और पत्रिकाओं से कार्टून इकट्ठा कीजिए। इन कार्टूनों में किन मुद्दों को उठाया गया है? ये कार्टून कौन-कौन-सी राजनीतिक अवधारणाओं को रेखांकित करते हैं?

प्राचीन यूनान के एथेंस नगर में सुकरात को सर्वाधिक विवेकशील व्यक्ति कहा जाता था। वह समाज, धर्म और राजनीति के बारे में प्रचलित मान्यताओं को सवालों के कटघरे में खड़ा करने और चुनौती देने के लिए प्रसिद्ध था। इसके लिए ही उसे एथेंस के शासकों द्वारा मृत्युदंड दिया गया।

सुकरात के शिष्य प्लेटो ने उसके जीवन और विचारों के बारे में विस्तार से लिखा है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'द रिपब्लिक' में सुकरात के नाम से एक चरित्र गढ़ा और उसके माध्यम से इस सवाल की जाँच-पड़ताल की कि 'न्याय क्या है?'

यह पुस्तक सुकरात और सेफलस के बीच एक संवाद से प्रारंभ होती है। इस संवाद के दौरान सेफलस और उसके मित्र समझने लगते हैं कि न्याय की उनकी दृष्टि अपर्याप्त है और उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सुकरात के तरीके में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसी दृष्टिकोण में निहित सीमाओं और असंगतियों को उजागर करने के लिए वह तर्कबुद्धि का प्रयोग करता है। उसके विपक्षी आखिरकार स्वीकार करते हैं कि उनके वे विचार जिनमें वे जीते थे चलने वाले नहीं हैं।

1.3 राजनीतिक सिद्धांतों को व्यवहार में उतारना

इस पाठ्यपुस्तक में हमने स्वयं को राजनीतिक सिद्धांत के सिर्फ एक पहलू तक सीमित रखा है- स्वतंत्रता, समानता, नागरिकता, न्याय, विकास, राष्ट्रवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे सुपरिचित राजनीतिक विचारों की उत्पत्ति, अर्थ और महत्त्व के बारे में ही हमने अध्ययन किया है। जब हम किसी मुद्दे पर बहस या तर्क-वितर्क आरंभ करते हैं, तो हम अक्सर पूछते हैं कि 'इसका अर्थ क्या है?' और 'यह कैसे महत्त्वपूर्ण होता है?' राजनीतिक सिद्धांतकारों ने बताया है कि आज़ादी या समानता क्या है और इसकी विविध परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। गणित, के विपरीत जहाँ त्रिभुज या वर्ग की सिर्फ एक परिभाषा होती है, राजनीतिक सिद्धान्त में हम समानता, आज़ादी या न्याय की अनेक परिभाषाओं से रूबरू होते हैं।

ऐसा इसलिए है क्योंकि समानता जैसे शब्दों का सरोकार किसी वस्तु के बजाय अन्य मनुष्यों के साथ हमारे संबंधों से होता है। वस्तुओं के विपरीत, मनुष्य समानता जैसे मुद्दों पर अपनी राय रखता है और इन मतों को समझने और इनसे तालमेल रखने की ज़रूरत होती है। ऐसा करने की दिशा में हम कैसे बढ़ सकते हैं? चलिए, हम विभिन्न जगहों में समानता से संबंधित सामान्य अनुभव से शुरू करें।

आपने गौर किया होगा कि लोग अक्सर सरकारी कार्यालय, डॉक्टर के प्रतीक्षालय या

आगे पढ़िए और देखिए कि सुकरात ने यह कैसे किया।

सेफलस! तुमने अच्छा कहा, मैंने जवाब दिया। लेकिन जहाँ तक न्याय की बात है, यह है क्या? —सत्य बोलना और अपना ऋण चुकाना —बस इससे अधिक कुछ नहीं?
और क्या इसके भी अपवाद नहीं होते हैं? ज़रा सोचिए, एक मित्र शांतचित्त भाव से अपने हथियार मेरे पास जमा कर देता है और उन हथियारों को वह ऐसी स्थिति में वापिस माँगता है, जब उसका दिमाग शांत नहीं है, ऐसी स्थिति में क्या मुझे उसे हथियार वापिस कर देने चाहिए? ...

आप बिल्कुल सही हैं, उसने कहा।

लेकिन तब, सत्य बोलना और ऋणों को चुकाना, न्याय की सही परिभाषा नहीं है। ...मैंने कहा।
पहले हमने सीधे-सीधे कहा था कि 'अपने मित्रों के साथ भला करना और अपने शत्रुओं के साथ बुरा करना न्याय है'। इसकी जगह हमें कहना चाहिए कि मित्र अच्छे हों तब उनके साथ अच्छा करना और जब शत्रु बुरे हों तब उनके साथ बुरा करना, न्याय है?

हाँ, मुझे यह ठीक लगता है।

दुकानों में कतार तोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। कई बार ऐसा करने वालों को पंक्ति में पीछे जाने के लिए कहा जाता है, तो हमें खुशी होती है। कई बार वे आगे निकल जाते हैं और हम ठगा-सा महसूस करते हैं। हम इसका विरोध करते हैं, क्योंकि हम जिनके लिए भुगतान करते हैं उन सामानों या सुविधाओं को पाने में समान अवसर चाहते हैं। इसलिए, जब हम अपने अनुभव पर ध्यान देते हैं, हम समझते हैं कि समानता का अर्थ सभी के लिए समान अवसर होता है। फिर भी, अगर वृद्धों और विकलांगों के लिए अलग काउंटर हों, तो हम समझते हैं कि उनके साथ विशेष बरताव न्यायोचित है।

लेकिन हम प्रतिदिन यह भी देखते हैं कि बहुत से गरीब लोग दुकान या चिकित्सक के पास इसलिए नहीं जा सकते कि उनके पास सामान या सुविधाओं की कीमत चुकाने के लिए रुपये नहीं होते। इनमें से कुछ लोग दैनिक मज़दूर होते हैं, जो घंटों पत्थर काटते या ईंट पाथते हैं। अगर हम संवेदनशील हैं, तो महसूस करते हैं कि यह अनुचित है कि समाज में कुछ सदस्यों की बुनियादी ज़रूरतें भी पूरी न हों। तब हम इस अनुभव से गुजरते हैं कि समानता में किसी न किसी प्रकार की निष्पक्षता बरती जानी चाहिए, ताकि लोग अनुचित रूप से शोषित न हों और आर्थिक कारकों की वजह से प्रतिकूल परिस्थितियों के शिकार न हों।

इस तथ्य पर गौर करें कि बहुत से बच्चे स्कूल नहीं जा पाते क्योंकि अपना पेट भरने के लिए उन्हें काम करना पड़ता है। इसी तरह अधिसंख्य लड़कियों को स्कूल से इसलिए हटा

लेकिन क्या किसी को भी चोट पहुँचाना न्यायपूर्ण होना चाहिए?
निस्संदेह, जो दुष्ट और शत्रु हैं, उन्हें चोट पहुँचाई जानी चाहिए।

जब घोड़े घायल होते हैं, तब उनकी स्थिति पहले से बेहतर होती है या बुरी?
पहले से बुरी होती है।

कहने का मतलब है कि जब उनकी स्थिति बुरी होती है उनमें घोटकत्व (घोड़े के गुण) कम होता है, श्वानत्व (कुत्ते के गुण) नहीं
हाँ, घोटकत्व कम होता है।

और जब कुत्तों की स्थिति बुरी होती है तब उनमें श्वानत्व कम होता है, घोटकत्व नहीं?
हाँ, बिल्कुल सही।

और जब कोई मनुष्य घायल होगा, तब उसमें मनुष्यत्व कम होगा?
निस्संदेह।

और वह मनुष्यत्व न्याय है?
निश्चित रूप से।

लिया जाता है कि माँ–बाप के काम पर जाने के दौरान उन्हें छोटे भाई–बहनों की देखभाल करनी है। हालाँकि भारतीय संविधान सभी को प्राथमिक शिक्षा पाने के अधिकार की गारंटी देता है, लेकिन यह अधिकार मात्र औपचारिक बनकर रह गया है। फिर, हम महसूस कर सकते हैं कि ऐसे बच्चों और उनके माँ–बाप के लिए सरकार को कुछ ज़्यादा ही करना चाहिए ताकि वे स्कूल जा सकें।

इस प्रकार आप देख सकते हैं कि समानता के बारे में हमारे विचार काफी जटिल हैं। जब हम पंक्तिबद्ध होते हैं या खेल के मैदान में होते हैं, हम समान अवसर चाहते हैं। जब हम किसी अक्षमता के शिकार होते हैं, तो हम चाहते हैं कि कुछ विशेष प्रावधान किए जाएँ। लेकिन जब हम बुनियादी ज़रूरतें भी पूरी नहीं कर पाते, तब समान अवसर मिलना ही पर्याप्त नहीं है। हमें स्कूल जाने या संसाधनों (रोजगार, अच्छा वेतन, रियायती अस्पताल आदि) का समुचित बँटवारा जैसे अग्रगामी उपायों से सहायता पाने में समर्थ बनाया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि निष्पक्षता को सुनिश्चित करने के लिए किसी एजेंसी को जिम्मेवार बनाने की ज़रूरत है।

इस प्रकार हमारे पास समानता की अनेक परिभाषाओं के होने की वजह यह है कि समानता का अर्थ प्रसंग पर निर्भर करता है। हमने इसके उस अर्थ से शुरूआत की, जो स्वयं हमारे लिए है और फिर हमने इसका विस्तार गरीब, वंचित, बूढ़े–बुजुर्ग आदि बाकी लोगों के

तब जो मनुष्य घायल हो जाता है वह निश्चित रूप से अन्यायपूर्ण बन जाता है?

हाँ, परिणाम तो यही है।

लेकिन क्या संगीतकार अपनी कला से मनुष्य को संगीत से दूर कर सकता है?

बिल्कुल नहीं।

और क्या घुड़सवार अपनी कला से उसे एक बुरा घुड़सवार बनाता है?

असंभव।

और क्या कोई न्यायपूर्ण व्यक्ति न्याय के द्वारा लोगों को अन्यायपूर्ण बना सकता है? या सामान्य शब्दों में क्या सद्‌गुणसंपन्न व्यक्ति किसी को बुरा बना सकता है?

निश्चित रूप से नहीं ...

और ना ही अच्छा व्यक्ति किसी को नुकसान पहुँचा सकता है।

हाँ यह तो असंभव है।

और न्यायपूर्ण व्यक्ति ही अच्छा व्यक्ति होता है?

निश्चित रूप से ।

लिए किया। हमने अर्थ की कई परतें खोलीं। हम पूर्ण रूप से समझे वगैर राजनीतिक सिद्धांत गढ़ते रहे।

राजनीतिक अवधारणाओं के अर्थ को राजनीतिक सिद्धांतकार यह देखते हुए स्पष्ट करते हैं कि आम भाषा में इसे कैसे समझा और बरता जाता है। वे विविध अर्थों और रायों पर विचार-विमर्श और उनकी जाँच-पड़ताल भी सुव्यवस्थित तरीके से करते हैं। अवसर की समानता कब पर्याप्त है? कब लोगों को विशेष बरताव की ज़रूरत होती है? ऐसा विशेष बरताव कब तक और किस हद तक किया जाना चाहिए? क्या गरीब बच्चों को स्कूल में बने रहने के लिए प्रोत्साहित करने हेतु दोपहर का भोजन दिया जाना चाहिए? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनकी ओर वे मुखातिब होते हैं। आप भी देख सकते हैं कि ये मसले बिल्कुल व्यावहारिक हैं। वे शिक्षा और रोजगार के बारे में सार्वजनिक नीतियाँ तय करने में मार्गदर्शन करते हैं।

जैसा समानता के मामले में है, वैसा ही अन्य अवधारणाओं के मामले भी हैं। राजनीतिक सिद्धांतकारों को रोजमर्रा के विचारों से उलझना पड़ता है, संभावित अर्थों पर विचार-विमर्श करना पड़ता है और नीतिगत विकल्पों को सूत्रबद्ध करना पड़ता है। आज़ादी, नागरिकता, अधिकार, विकास, न्याय, समानता, राष्ट्रवाद और धर्मनिरपेक्षता आदि कुछ अवधारणाओं पर हम अगले अध्यायों में विचार करेंगे।

तब मित्र या किसी भी अन्य व्यक्ति को नुकसान पहुँचाना एक न्यायपूर्ण व्यक्ति का नहीं वरन् उससे ठीक उलट एक अन्यायपूर्ण व्यक्ति का ही काम होता है?
मेरा सोचना है कि सुकरात तुम जो कह रहे हो वह काफी सत्य है।

और जो किसी रोग से बचाव या रोकथाम में सर्वाधिक कुशल होता है, वही उसे पैदा करने में भी सर्वाधिक सक्षम होता है।
सच बात है।

और जो शत्रु से जीत सकता है, वही किले का सबसे अच्छा रक्षक होता है।
निश्चित ही।

तब जो किसी चीज़ का अच्छा रखवाला होता है, वही अच्छा चोर भी होता है।
हाँ, इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है।

तब अगर न्यायपूर्ण व्यक्ति धन की रक्षा करने में अच्छा होता है तो वह गबन करने में भी अच्छा होता है।
इस तर्क में तो यही निहित है।

1.4 हमें राजनीतिक सिद्धांत क्यों पढ़ना चाहिए?

हमारे अपने राजनीतिक आदर्श हो सकते हैं, पर क्या हमें राजनीतिक सिद्धांतों के अध्ययन की भी ज़रूरत है? क्या यह राजनीति करने वाले राजनेताओं के लिए या नीति बनाने वाले नौकरशाहों के लिए या राजनीतिक सिद्धांत पढ़ाने वाले अध्यापकों के लिए ज़्यादा उपयुक्त नहीं है? बेहतर तो यह होगा कि राजनीतिक सिद्धांत संविधान और कानूनों की व्याख्या करने वाले वकील या जज या उन कार्यकर्ताओं और पत्रकारों को पढ़ना चाहिए, जो शोषण का पर्दाफाश करते हैं और नए अधिकारों की माँग करते हैं। हमें आज़ादी या समानता का अर्थ जानने से क्या मिलेगा?

पहली बात तो यह कि राजनीतिक सिद्धांत ऐसे सभी समूहों के लिए प्रासंगिक है। छात्र के रूप में हम भविष्य में उपरोक्त पेशों में से किसी एक को चुन सकते हैं और इसलिए परोक्ष रूप से यह अभी ही हमारे लिए प्रासंगिक है। क्या हम गणित नहीं पढ़ते, जबकि हममें से सभी गणितज्ञ या इंजीनियर नहीं बनेंगे? क्या इसीलिए नहीं कि बुनियादी अंकगणित जीवन में सामान्यत: उपयोगी होता है?

दूसरी बात यह कि हम सभी मत देने और अन्य मसलों के फ़ैसले करने के अधिकार-संपन्न नागरिक बनने जा रहे हैं। दायित्वपूर्ण कार्य निर्वहन के लिए उन राजनीतिक

तब सभी न्यायपूर्ण व्यक्तियों के चोर बन जाने के बाद ...
तुम यह तर्क दोगे कि जो अच्छे हैं वे हमारे मित्र हैं और जो बुरे हैं वे हमारे शत्रु?

हाँ।

पहले हमने सीधे-सीधे कहा था कि 'अपने मित्रों के साथ भला करना और अपने शत्रुओं के साथ बुरा करना न्याय है'। इसकी जगह हमें कहना चाहिए कि मित्र अच्छे हों तब उनके साथ अच्छा करना और जब शत्रु बुरे हों तब उनके साथ बुरा करना, न्याय है।

हाँ, मुझे यह ठीक लगता है।
लेकिन क्या किसी को भी चोट पहुँचाना न्यायपूर्ण होना चाहिए?
निस्संदेह, जो दुष्ट और शत्रु हैं, उन्हें चोट पहुँचाई जानी चाहिए।

जब घोड़े घायल होते हैं, तब उनकी स्थिति पहले से बेहतर होती है या बुरी?
पहले से बुरी होती है।

कहने का मतलब है कि जब उनकी स्थिति बुरी होती है उनमें घोटकत्व कम होता है, श्वानत्व नहीं?
हाँ, घोटकत्व कम होता है।

विचारों और संस्थाओं की बुनियादी जानकारी हमारे लिए मददगार होती है, जो हमारी दुनिया को आकार देते हैं। सूचनापरक समाज में, यदि हमें ग्रामसभा में सहभागी होना है या वेबसाइट और मतदान पर अपनी राय पेश करनी है, तो हमारा तर्कशील और जानकार होना निर्णायक होता है। यदि हम मनमाने तरीके से अपनी वरीयताएँ प्रकट करें, तो हम ज़्यादा प्रभावी नहीं होंगे। लेकिन यदि हम विचारशील और परिपक्व हैं, तो हम अपने साझा हितों को गढ़ने और व्यक्त करने के लिए नए माध्यमों का उपयोग कर सकते हैं।

नागरिक के रूप में, हम किसी संगीत कार्यक्रम के श्रोता जैसे होते हैं। हम गीत और लय की व्याख्या करने वाले मुख्य कलाकार नहीं होते। लेकिन हम कार्यक्रम तय करते हैं, प्रस्तुति का रसास्वादन करते हैं और नये अनुरोध करते हैं। क्या आपने गौर किया कि संगीतकार तब बेहतर प्रदर्शन करते हैं, जब उन्हें श्रोताओं के जानकार और कद्रदान होने का पता रहता है? इसी तरह शिक्षित और सचेत नागरिक भी राजनीति करने वालों को जनाभिमुख बना देते हैं।

तीसरी बात यह कि आज़ादी, समानता, और धर्मनिरपेक्षता हमारे जीवन के अमूर्त मसले नहीं हैं। परिवारों, विद्यालयों, महाविद्यालयों, व्यावसायिक केंद्रों आदि में तरह-तरह के भेदभावों का हम प्रतिदिन सामना करते हैं। हम स्वयं भी अपने से भिन्न लोगों के प्रति पूर्वाग्रह रखते हैं, चाहे वे अलग जाति के हों या अलग धर्म के अथवा अलग लिंग या वर्ग के। यदि हम उत्पीड़ित महसूस करते हैं, तो हम पीड़ा का निवारण चाहते हैं और यदि उसमें विलंब होता है,

और जब कुत्तों की स्थिति बुरी होती है तब उनमें श्वानत्व कम होता है, घोटकत्व नहीं?
हाँ, बिल्कुल सही।

और जब कोई मनुष्य घायल होगा, तब उसमें मनुष्यत्व कम होगा?
निस्संदेह।

और वह मनुष्यत्व न्याय है?
निश्चित रूप से।
तब जो मनुष्य घायल हो जाता है वह निश्चित रूप से अन्यायपूर्ण बन जाता है?
हाँ, परिणाम तो यही है।
लेकिन क्या संगीतकार अपनी कला से मनुष्य को संगीत से दूर कर सकता है?
बिल्कुल नहीं।
और क्या घुड़सवार अपनी कला से उसे एक बुरा घुड़सवार बनाता है?
असंभव।
और क्या कोई न्यायपूर्ण व्यक्ति न्याय के द्वारा लोगों को अन्यायपूर्ण बना सकता है?

तब हम महसूस करते हैं कि हिंसक क्रांति उचित है। यदि हम विशेषाधिकार संपन्न हैं, तो हम सम्मान के लिए संघर्षरत अपने नौकरों और नौकरानियों के उत्पीड़न से भी इनकार करते हैं। कभी-कभी हम यह भी महसूस करते हैं कि हमारे नौकर उसी व्यवहार के योग्य हैं, जो उनके साथ हो रहा है। राजनीतिक सिद्धांत बस यही करता है कि वह हमें राजनीतिक चीज़ों के बारे में अपने विचारों और भावनाओं के परीक्षण के लिए प्रोत्साहित करता है। थोड़ी अधिक सतर्कता से देखने भर से हम अपने विचारों और भावनाओं में उदार होते जाते हैं।

और अंत में छात्र के रूप में हम बहस और भाषण प्रतियोगिताओं में हिस्सा लेते हैं। हमारी अपनी राय होती तो है कि क्या सही है और क्या गलत, क्या उचित है और क्या अनुचित, पर यह हम नहीं जानते कि वे तर्कसंगत हैं या नहीं। जब हम दूसरे से बहस करते हैं, तभी हम अपने विचारों का बचाव करने की ज़रूरत महसूस करते हैं और इसके लिए तर्क और युक्तियाँ तलाशते हैं। राजनीतिक सिद्धांत हमें न्याय या समानता के बारे में सुव्यवस्थित सोच से अवगत कराते हैं, ताकि हम अपने विचारों को परिष्कृत कर सकें और सार्वजनिक हित में सुविज्ञ तरीके से तर्क-वितर्क कर सकें। तर्कसंगत ढंग से बहस करने और प्रभावी तरीके से संप्रेषण करने जैसे कौशल वैश्विक सूचना-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण गुण साबित होते हैं।

या सामान्य शब्दों में क्या सद्‌गुणसंपन्न व्यक्ति किसी को बुरा बना सकता है?

निश्चित रूप से नहीं ...

और ना ही अच्छा व्यक्ति किसी को नुकसान पहुँचा सकता है।

हाँ यह तो असंभव है।

और न्यायपूर्ण व्यक्ति ही अच्छा व्यक्ति होता है?

निश्चित रूप से ।

तब मित्र या किसी भी अन्य व्यक्ति को नुकसान पहुँचाना एक न्यायपूर्ण व्यक्ति का नहीं वरन् उससे ठीक उलट एक अन्यायपूर्ण व्यक्ति का ही काम होता है?

मेरा सोचना है कि सुकरात तुम जो कह रहे हो वह काफी सत्य है।

तब अगर कोई आदमी कहता है कि न्याय ऋण चुकाने में है और अच्छे वे ऋण हैं, जो मित्रों को चुकाने हैं और बुरे वे जो शत्रुओं को चुकाने हैं। —यह कहना समझदारी नहीं है क्या कि यह सत्य नहीं है। जैसा कि स्पष्ट रूप से दिखाया जा चुका है, किसी को भी चोट पहुँचाना किसी भी स्थिति में न्यायपूर्ण नहीं हो सकता।

पॉलिमार्कस ने कहा, मैं तुमसे सहमत हूँ।

प्रश्नावली

1. राजनीतिक सिद्धांत के बारे में नीचे लिखे कौन-से कथन सही हैं और कौन-से गलत?
   (क) राजनीतिक सिद्धांत उन विचारों पर चर्चा करते हैं जिनके आधार पर राजनीतिक संस्थाएँ बनती हैं।
   (ख) राजनीतिक सिद्धांत विभिन्न धर्मों के अंतर्संबंधों की व्याख्या करते हैं।
   (ग) ये समानता और स्वतंत्रता जैसी अवधारणाओं के अर्थ की व्याख्या करते हैं।
   (घ) ये राजनीतिक दलों के प्रदर्शन की भविष्यवाणी करते हैं।

2. 'राजनीति उस सबसे बढ़कर है, जो राजनेता करते हैं।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं? उदाहरण भी दीजिए।

3. लोकतंत्र के सफल संचालन के लिए नागरिकों का जागरूक होना ज़रूरी है। टिप्पणी कीजिए।

4. राजनीतिक सिद्धांत का अध्ययन हमारे लिए किन रूपों में उपयोगी है? ऐसे चार तरीकों की पहचान करें जिनमें राजनीतिक सिद्धांत हमारे लिए उपयोगी हों।

5. क्या एक अच्छा/प्रभावपूर्ण तर्क औरों को आपकी बात सुनने के लिए बाध्य कर सकता है?

6. क्या राजनीतिक सिद्धांत पढ़ना, गणित पढ़ने के समान है? अपने उत्तर के पक्ष में कारण दीजिए।

अध्याय 2

स्वतंत्रता

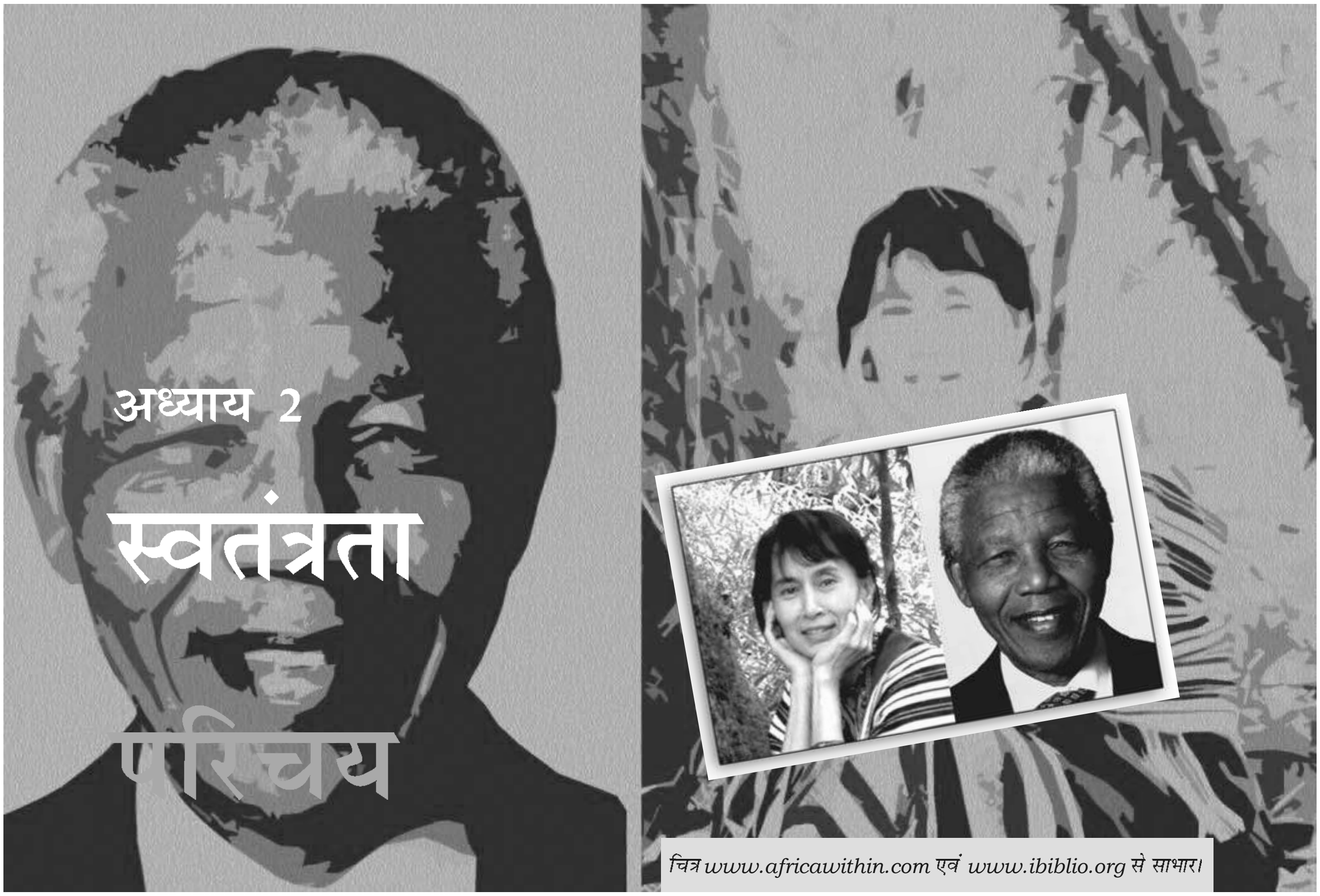

चित्र *www.africawithin.com* एवं *www.ibiblio.org* से साभार।

परिचय

मानव इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जब अधिक शक्तिशाली समूहों ने कुछ लोगों या समुदायों का शोषण किया, उन्हें गुलाम बनाया या उन्हें अपने आधिपत्य में ले लिया। लेकिन इतिहास हमें ऐसे वर्चस्व के खिलाफ शानदार संघर्षों के प्रेरणादायी उदाहरण भी देता है। यह स्वतंत्रता क्या है, जिसके लिए लोग अपना जीवन देने तक के लिए तैयार रहे हैं? साररूप में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष लोगों की इस आकांक्षा को दिखाता है कि वे अपने जीवन और नियति का नियंत्रण स्वयं करें तथा उनका अपनी इच्छाओं और गतिविधियों को आज़ादी से व्यक्त करने का अवसर बना रहे। न केवल व्यक्ति वरन् समाज भी अपनी स्वतंत्रता को महत्त्व देते हैं और चाहते हैं कि उनकी संस्कृति और भविष्य की रक्षा हो।

लोगों के विविध हितों और आकांक्षाओं को देखते हुए किसी भी सामाजिक जीवन को कुछ नियमों और कानूनों की ज़रूरत होती है। हो सकता है कि इन नियमों के लिए ज़रूरी हो कि व्यक्ति की स्वतंत्रता की कुछ सीमाएँ तय की जाए, लेकिन यह माना जाता है कि ये सीमाएँ हमें असुरक्षा से मुक्त करती हैं और ऐसी स्थितियाँ प्रदान करती हैं जिनमें हम अपना विकास कर सकें। राजनीतिक सिद्धांत में स्वतंत्रता के बारे में अधिकतर चर्चा ऐसे नियमों को विकसित करने पर केंद्रित रही है, जो सामाजिक रूप से आवश्यक सीमाओं और बाकी प्रतिबंधों के बीच अंतर स्पष्ट करती है। इस पर भी वाद-विवाद रहा है कि स्वतंत्रता की क्या सीमाएँ होनी चाहिए, जिसके फलस्वरूप किसी समाज की आर्थिक और सामाजिक संरचनाएँ प्रभावित होती हैं। इस अध्याय में हम कुछ ऐसी ही चर्चाओं पर एक नज़र डालेंगे।

इस अध्याय के अध्ययन के बाद आप-

- ☐ व्यक्ति और समाज दोनो के लिए स्वतंत्रता के महत्त्व को समझेंगे।
- ☐ स्वतंत्रता के सकारात्मक और नकारात्मक आयामों में अंतर की व्याख्या करने में समर्थ होंगे।
- ☐ यह समझ पाएँगे की 'हानि सिद्धांत' का क्या मतलब है।

स्वतंत्रता

2.1 स्वतंत्रता का आदर्श

इन सवालों के जवाब देने से पहले हम एक क्षण के लिए रुकें और कुछ विचार करें। 20 वीं शताब्दी के एक महानतम व्यक्ति नेल्सन मंडेला की आत्मकथा का शीर्षक 'लाँग वाक टू फ्रीडम' (स्वतंत्रता के लिए लंबी यात्रा) है। इस पुस्तक में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के रंगभेदी शासन के खिलाफ अपने व्यक्तिगत संघर्ष, गोरे लोगों के शासन की अलगाववादी नीतियों के खिलाफ लोगों के प्रतिरोध और दक्षिण अफ्रीका के काले लोगों द्वारा झेले गए अपमान, कठिनाइयों और पुलिस अत्याचार के बारे में बातें की हैं। इन अलगाववादी नीतियों में एक शहर में घेराबंदी किए जाने और देश में मुक्त आवागमन पर रोक लगाने से लेकर विवाह करने में मुक्त चयन तक पर प्रतिबंध लगाना शामिल है। सामूहिक रूप से इन सभी प्रतिबंधों को नस्ल के आधार पर भेदभाव करने वाली रंगभेदी सरकार ने जबरदस्ती लागू किया था। मंडेला और उनके साथियों के लिए इन्हीं अन्यायपूर्ण प्रतिबंधों और स्वतंत्रता के रास्ते की बाधाओं को दूर करने का संघर्ष 'लाँग वाक टू फ्रीडम' (स्वतंत्रता के लिए लंबी यात्रा) था। विशेष बात यह कि मंडेला का संघर्ष केवल काले या अन्य लोगों के लिए ही नहीं वरन श्वेत लोगों के लिए भी था।

इसी स्वतंत्रता के लिए मंडेला ने अपने जीवन के अट्ठाईस वर्ष जेल की कोठरियों के अंधेरे में बिताए। कल्पना कीजिए कि अपने यौवन को किसी आदर्श के लिए होम कर देना; अपने दोस्तों के साथ बातचीत करने, अपने प्रिय खेल (मंडेला बॉक्सिंग पसंद करते थे) खेलने, अपने पसंद के कपड़े पहनने, अपना प्रिय संगीत सुनने जैसे आनन्दों को छोड़ देना और जीवन के अंग रहे उत्सवों का त्याग कर देने का क्या मतलब होता है? कल्पना कीजिए कि आपने यह सब छोड़ दिया है क्योंकि आप अपने लोगों की आज़ादी के लिए अभियान चला रहे हैं। आपने एकाकी कोठरी में बंद रहना चुना है और आपको यह भी नहीं पता कि आपको जेल से कब छोड़ा जाएगा। स्वतंत्रता के लिए मंडेला ने व्यक्तिगत रूप से बहुत ही भारी कीमत चुकाई।

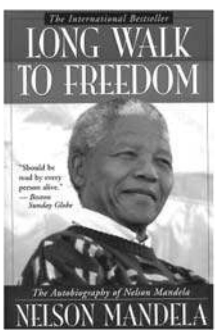

क्या केवल महान स्त्रियाँ और पुरुष ही स्वतंत्रता जैसे ऊँचे आदर्शों के लिए लड़ते हैं? इस सिद्धांत का मेरे लिए क्या मतलब है?

स्वतंत्रता के लिए संघर्ष से जुड़ा एक और मामला देखते हैं। आँग सान सू की के लिए गाँधी जी के अहिंसा के विचार प्रेरणास्रोत रहे हैं। आज सू की को म्यांमार में उनके घर पर नज़रबंद करके रखा गया है। सू की अपने

स्वतंत्रता

बच्चों से अलग हैं। यहाँ तक कि जब उनके पति कैंसर के कारण मौत से जूझ रहे थे, तब भी सू की को उनसे मिलने नहीं दिया गया। सैनिक शासकों को डर था कि यदि वह अपने पति से मिलने इंग्लैंड गई, तो उसे वापिस म्यांमार लाना संभव नहीं होगा। आँग सान सू की अपनी आज़ादी को अपने देश के लोगों की आज़ादी से जोड़कर देखती हैं। उनकी पुस्तक का शीर्षक 'फ्रीडम फ्रॉम फीयर' (भय से मुक्ति) है। वह कहती हैं, "मेरे लिए वास्तविक मुक्ति भय से मुक्ति है। भय से मुक्त हुए बिना आप गरिमापूर्ण मानवीय जीवन नहीं जी सकते।'' ये गहरे विचार हैं, जो हमसे एक क्षण रुकने और अपने निहितार्थ समझने की माँग करते हैं। सू की का कहना है कि हमें न तो बाकी लोगों के विचारों से और न ही सत्ता के व्यवहार से डरना चाहिए। हम जो करना चाहते हैं, उसके बारे में समाज के लोगों की प्रतिक्रियाओं, साथ के लोगों के मजाक उड़ाने से ही अपने अथवा मन के भय से नहीं डरना चाहिए। इसके बाद भी हम अकसर भय का प्रदर्शन करते हैं। आँग सान सू की के अनुसार गरिमापूर्ण मानवीय जीवन जीने के लिए ज़रूरी है कि हम भय पर विजय पाएँ।

आँग सान सू की और नेल्सन मंडेला की इन दो पुस्तकों में हम स्वतंत्रता के आदर्श की शक्ति देख सकते हैं। यही आदर्श हमारे राष्ट्रीय संघर्ष और ब्रिटिश , फ्रांसीसी तथा पुर्तगाली उपनिवेशवाद के खिलाफ एशिया-अफ्रीका के लोगों के संघर्ष के केंद्र में था।

2.2 स्वतंत्रता क्या है?

"स्वतंत्रता क्या है?" इस प्रश्न का एक सीधा-सपाट उत्तर यह है कि व्यक्ति पर बाहरी प्रतिबंधों का अभाव ही स्वतंत्रता है। इस परिभाषा के हिसाब से यदि किसी व्यक्ति पर बाहरी नियंत्रण या दबाव न हो और वह बिना किसी पर निर्भर हुए निर्णय ले सके तथा स्वायत्त तरीके से व्यवहार कर सके, तो वह व्यक्ति स्वतंत्र माना जा सकता है। हालाँकि प्रतिबंधों का न होना स्वतंत्रता का केवल एक पहलू है। स्वतंत्रता का अर्थ व्यक्ति की आत्म-अभिव्यक्ति की योग्यता का विस्तार करना और उसके अंदर की संभावनाओं को विकसित करना भी है। इस अर्थ में स्वतंत्रता वह स्थिति है, जिसमें लोग अपनी रचनात्मकता और क्षमताओं का विकास कर सकें।

बाहरी प्रतिबंधों का अभाव और ऐसी स्थितियों का होना जिनमें लोग अपनी प्रतिभा का विकास कर सकें, स्वतंत्रता के ये दोनों ही पहलू महत्त्वपूर्ण हैं। एक स्वतंत्र समाज वह होगा, जो अपने सदस्यों को न्यूनतम सामाजिक अवरोधों के साथ अपनी संभावनाओं के विकास में समर्थ बनाएगा।

आओ कुछ करके सीखें

क्या आप अपने गाँव, शहर या जनपद में ऐसे किसी व्यक्ति के बारे में याद कर सकते हैं, जिसने अपनी या औरों की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया हो? उस व्यक्ति के बारे में एक छोटा-सा लेख लिखिए। इस लेख में यह भी लिखिए कि उस व्यक्ति ने स्वतंत्रता के किस खास पहलू की रक्षा के लिए संघर्ष किया।

स्वतंत्रता

स्वराज

भारतीय राजनीतिक विचारों में स्वतंत्रता की समानार्थी अवधारणा 'स्वराज' है। स्वराज का अर्थ 'स्व' का शासन भी हो सकता है और 'स्व' के ऊपर शासन भी हो सकता है। भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के संदर्भ में स्वराज राजनीतिक और संवैधानिक स्तर पर स्वतंत्रता की माँग है और सामाजिक और सामूहिक स्तर पर यह एक मूल्य है। इसीलिए स्वराज स्वतंत्रता आंदोलन में एक महत्त्वपूर्ण नारा बन गया जिसने तिलक के प्रसिद्ध कथन 'स्वराज मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा' को प्रेरित किया।

स्वराज का आशय अपने ऊपर अपना राज भी है। स्वराज की यही समझ गांधी के 'हिंद स्वराज' में प्रकट हुई है। हिंद स्वराज के शब्दों में, ''जब हम स्वयं पर शासन करना सीखते हैं तभी स्वराज है''। स्वराज केवल स्वतंत्रता नहीं ऐसी संस्थाओं से मुक्ति भी है, जो मनुष्य को उसी मनुष्यता से वंचित करती है।

स्वराज में मानव को यंत्रवत बनाने वाली संस्थाओं से मुक्ति पाना निहित है। साथ ही स्वराज में आत्मसम्मान, दायित्वबोध और आत्म साक्षात्कार को पाना भी शामिल है। स्वराज पाने की परियोजना में सच्चे 'स्व' और उसके समाज-समुदाय से रिश्तों को समझना महत्त्वपूर्ण है।'

गांधी जी का मानना था कि 'स्वराज' के फलस्वरूप होने वाले बदलाव न्याय के सिद्धांत से निर्देशित होकर व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों तरह की संभावनाओं को अवमुक्त करेंगे। कहना न होगा कि स्वराज की ऐसी समझ 21वीं सदी में भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी 1909 में गांधी के हिंद स्वराज लिखते समय थी।

समाज में रहने वाला कोई भी व्यक्ति हर किस्म की सीमा और प्रतिबंधों की पूर्ण अनुपस्थिति की उम्मीद नहीं कर सकता। ऐसे में यह तय करना ज़रूरी हो जाता है कि कौन-से सामाजिक प्रतिबंध न्यायोचित हैं और कौन-से नहीं, किस को स्वीकार किया जा सकता है और किस को हटाया जाना चाहिए। व्यक्ति और समाज के बीच बने केंद्रीय संबंधों को समझकर ही यह जाना जा सकता है कि कौन-से सामाजिक प्रतिबंध जरूरी हैं। यहाँ समाज का अर्थ समूह, समुदाय अथवा राज्य भी हो सकता है जिसके भीरत व्यक्ति मौजूद होता है। मतलब यह है कि हमें व्यक्ति और समाज के बीच के रिश्तों की पड़ताल करने की ज़रूरत है। यह देखना भी ज़रूरी होगा कि समाज का कौन-सा लक्षण व्यक्ति को चयन, निर्णय या काम करने की स्वतंत्रता देता है और कौन-सा नहीं। हमें यह तय करने की ज़रूरत है कि कौन-सा लक्षण वांछित है और कौन-सा नहीं, किस लक्षण को दूर किया जाना चाहिए और किसको नहीं। हमें यह भी देखने की आवश्यकता होगी कि जो सिद्धांत हमने यह तय करने में इस्तेमाल किया कि कौन-सा प्रतिबंध ज़रूरी है क्या उस सिद्धांत को व्यक्तिगत और समूह तथा राष्ट्र के बीच के संबंधों पर भी लागू कर सकते हैं?

अभी तक हमने स्वतंत्रता को प्रतिबंधों के अभाव के रूप में परिभाषित किया है। स्वतंत्र होने का अर्थ उन सामाजिक प्रतिबंधों को कम से कमतर करना है जो हमारी स्वतंत्रता पूर्वक चयन करने की क्षमता पर रोकटोक लगाए। हालाँकि यह स्वतंत्रता का केवल एक पहलू है। दूसरे शब्दों में स्वतंत्रता का एक सकारात्मक पहलू भी है। स्वतंत्र

स्वतंत्रता

होने के लिए समाज को उन बातों को विस्तार देना चाहिए जिससे व्यक्ति, समूह, समुदाय या राष्ट्र अपने भाग्य दिशा और स्वरूप का निर्धारण करने में समर्थ हो सकें। इस अर्थ में स्वतंत्रता व्यक्ति की रचनाशीलता, संवेदनशीलता और क्षमताओं के भरपूर विकास को बढावा देती है। यह विकास खेल, विज्ञान, कला, संगीत या अन्वेषण जैसे किसी भी क्षेत्र में हो सकता है।

स्वतंत्र समाज वह होता है, जिसमें व्यक्ति अपने हित संवर्धन न्यूनतम प्रतिबंधों के बीच करने में समर्थ हो। स्वतंत्रता को इसलिए बहुमूल्य माना जाता है, क्योंकि इससे हम निर्णय और चयन कर पाते हैं। स्वतंत्रता के कारण ही व्यक्ति अपने विवेक और निर्णय की शक्ति का प्रयोग कर पाते हैं।

> **वाद-विवाद-संवाद**
>
> लड़के-लड़कियों को यह तय करने की आज़ादी होनी चाहिए कि वे किससे शादी करें। इस मामले में अभिभावकों को कुछ नहीं कहना चाहिए।

प्रतिबंधों के स्रोत

व्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध प्रभुत्व और बाहरी नियंत्रण से लग सकते हैं। ये प्रतिबंध बलपूर्वक या सरकार द्वारा ऐसे कानून कि मदद से लगाए जा सकते हैं, जो शासकों की ताकत का प्रतिनिधित्व करे। ऐसे प्रतिबंध उपनिवेशवादी शासकों ने या दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की व्यवस्था ने लगाए। सरकार की कोई न कोई ज़रूरत हो सकती है, लेकिन सरकार लोकतांत्रिक हो तो राज्य के नागरिकों का अपने शासकों पर कुछ नियंत्रण हो सकता है। इसलिए लोकतांत्रिक सरकार लोगों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए एक ज़रूरी माध्यम मानी गई है।

लेकिन स्वतंत्रता पर प्रतिबंध सामाजिक असमानता के कारण भी हो सकते हैं जैसा कि जाति व्यवस्था में होता है और समाज में अत्यधिक आर्थिक असमानता के कारण भी हो स्वतंत्रता पर अंकुश लग सकते हैं। सुभाष चन्द्र बोस का कथन ऐसे ही प्रतिबंधों को दूर करने की ज़रूरत की ओर ध्यान दिलाता है।

2.3 हमें प्रतिबंधों की आवश्यकता क्यों है?

हम ऐसी दुनिया में नहीं रह सकते जिसमें कोई प्रतिबंध ही न हो। हमें कुछ प्रतिबंधों की तो ज़रूरत है, अन्यथा समाज अव्यवस्था की गर्त में पहुँच जाएगा। लोगों के बीच मत-मतांतर हो सकते हैं, उनकी महत्त्वाकांक्षाओं में टकराव हो सकता है, वे सीमित साधनों के लिए प्रतिस्पर्धी हो सकते हैं। समाज में असहमति उभरने के अनेक कारण हो सकते हैं और कुछ तो खुले संघर्ष के रूप में भी व्यक्त हो सकते हैं। हम चारों ओर छोटे-बड़े कारणों पर लड़ने के लिए तैयार लोगों को देखते हैं। सड़क पर गाड़ी चलाते समय क्रोध, पार्किंग में जगह के लिए झगड़ा, जमीन या मकान के लिए लड़ाई, किसी खास फिल्म

स्वतंत्रता

स्वतंत्रता के बारे में नेताजी सुभाष चन्द्र के विचार

यदि हम विचारों में क्रांति लाना चाहते हैं तो सबसे पहले हमारे सामने एक ऐसा आदर्श होना चाहिए जो हमारे पूरे जीवन को एक उमंग से भर दे। यह आदर्श स्वतंत्रता का है। लेकिन स्वतंत्रता एक ऐसा शब्द है, जिसके बहुत सारे अर्थ हैं। हमारे देश में भी स्वतंत्रता की अवधारणा विकास की एक प्रक्रिया से गुजरी है। स्वतंत्रता से मेरा आशय ऐसी सर्वांगीण स्वतंत्रता है- जो व्यक्ति और समाज की हो, अमीर और गरीब की हो, स्त्रियों और पुरुषों की हो तथा सभी लोगों और सभी वर्गों की हो। इस स्वतंत्रता का मतलब न केवल राजनीतिक गुलामी से मुक्ति होगा बल्कि संपत्ति का समान बंटवारा, जातिगत अवरोधों और सामाजिक असमानताओं का अंत तथा सांप्रदायिकता और धार्मिक असहिष्णुता का सर्वनाश भी होगा। यह आदर्श व्यवहार कुशल स्त्री-पुरुषों को स्वप्न-सरीखा लग सकता है, लेकिन केवल यही आदर्श आत्मा की भूख मिटा सकता है।

(19 अक्टूबर 1929 को लाहौर में छात्र सम्मेलन में दिया गया अध्यक्षीय भाषण)

को दिखाए जाने पर असहमति जैसे अनेक मुद्दे संघर्ष, हिंसा और कई बार जन हानि तक ले जाते हैं। इसलिए हर समाज को हिंसा पर नियंत्रण और विवाद के निबटारे के लिए कोई न कोई तरीका अपनाना ज़रूरी होता है। जब तक हम एक-दूसरे के विचारों का सम्मान करें और दूसरे पर अपने विचार थोपने का प्रयास न करें तब तक हम आज़ादी के साथ और न्यूनतम प्रतिबंधों के साथ रहने में सक्षम रहेंगे। आदर्श रूप में एक मुक्त समाज में हमें अपने विचारों को बनाए रखने, जीने के अपने तरीके विकसित करने और अपनी इच्छाओं का पालन करने में समर्थ होना चाहिए।

लेकिन ऐसे समाज के निर्माण के लिए भी कुछ प्रतिबंधों की आवश्यकता होती है। कम से कम यह ज़रूरी होती है कि हम विचार, विश्वास और मत के अंतरों को स्वीकार करने के लिए तैयार रहें। कभी-कभी हमें लग सकता है कि हमारी प्रबल आस्थाओं के लिए ज़रूरी है कि हम उन सबका विरोध करें, जो हमारे विचारों को खारिज करते हैं या उनसे अलग राय रखते हैं। हमें कुछ विचार या जीवन शैली अस्वीकार्य या अवांछित लग सकते हैं। ऐसी स्थिति में कुछ ऐसे कानूनी और राजनीतिक प्रतिबंध होने चाहिए, जिनसे यह सुनिश्चित हो सके कि एक समूह के विचारों को दूसरे पर आरोपित किए बिना आपसी अंतरों पर चर्चा और वाद-विवाद हो सके। बदतर स्थिति में हमें किसी के विचारों से एकरूप हो जाने के लिए बाध्य किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में हमें अपनी स्वतंत्रता को बचाने के लिए कानून के संरक्षण की और भी ज़्यादा ज़रूरत होती है।

हालाँकि महत्त्वपूर्ण सवाल यह पहचानना है कि स्वतंत्रता पर कौन-सा प्रतिबंध आवश्यक और औचित्यपूर्ण है और कौन-सा नहीं? कौन-सी सत्ता औचित्यपूर्वक यह कह सकती है कि क्या किया जा सकता है और क्या नहीं? और, क्या हमारे जीवन के कुछ क्षेत्र और कार्य ऐसे हैं, जिन्हें सभी बाहरी प्रतिबंधों से मुक्त छोड़ दिया जाना चाहिए?

2.4 'हानि सिद्धांत'

इस सवाल का संतोषजनक जवाब देने के लिए हमें प्रतिबंध, सीमा आरोपित करने की सक्षमता और उनके परिणामों से जुड़े मुद्दों को देखना होगा। हमें एक और मुद्दे पर ध्यान देना होगा जिसे जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने निबंध 'ऑन लिबर्टी' में बहुत प्रभावपूर्ण तरीके से उठाया है। राजनीतिक सिद्धांत के विमर्श में इसे 'हानि सिद्धांत' कहा जाता है। आइए मिल के कथन को उसी के शब्दों में पढ़ें और समझने का प्रयास करें।

"सिद्धांत यह है कि किसी के कार्य करने की स्वतंत्रता में व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से हस्तक्षेप करने का इकलौता लक्ष्य आत्म-रक्षा है। सभ्य समाज के किसी सदस्य की इच्छा के खिलाफ शक्ति के औचित्यपूर्ण प्रयोग का एकमात्र उद्देश्य किसी अन्य को हानि से बचाना हो सकता है।"

मिल ने यहाँ एक महत्त्वपूर्ण विभेद को सामने रखा। मिल ने 'स्वसंबद्ध' और 'परसंबद्ध' कार्यों में अंतर बताया। स्वसंबद्ध वे कार्य हैं, जिनके प्रभाव केवल इन कार्यों को करने वाले व्यक्ति पर पड़ते हैं जबकि परसंबद्ध कार्य वे हैं जो कर्ता के अलावा बाकी लोगों पर भी प्रभाव डालते हैं। मिल का तर्क है कि स्वसंबद्ध कार्य और निर्णयों के

उदारवाद

जब हम कहते हैं कि उसके माता-पिता बड़े उदार हैं, तब हम अक्सर यह कहना चाहते हैं कि वे बड़े सहनशील हैं। एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में उदारवाद को सहनशीलता के मूल्य के साथ जोड़ कर देखा जाता है। उदारवादी चाहे किसी व्यक्ति से असहमत हों, तब भी वे उसके विचार और विश्वास रखने और व्यक्त करने के अधिकार का पक्ष लेते हैं। लेकिन उदारवाद इतना भर नहीं है और न ही उदारवाद एकमात्र आधुनिक विचारधारा है, जो सहिष्णुता का समर्थन करती है। आधुनिक उदारवाद की विशेषता यह है कि इसमें केंद्र बिंदु व्यक्ति है। उदारवाद के लिए परिवार, समाज या समुदाय जैसी ईकाइयों का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं है। उनके लिए इन ईकाइयों का महत्त्व तभी है, जब व्यक्ति इन्हें महत्त्व दे। उदाहरण के लिए उदारवादी कहेंगे कि किसी से विवाह करने का निर्णय व्यक्ति को लेना चाहिए, परिवार, जाति या समुदाय को नहीं। उदारवादी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को समानता जैसे अन्य मूल्यों से अधिक वरीयता देते हैं। वे आमतौर पर राजनीतिक सत्ता को भी संदेह की नज़र से देखते हैं।

ऐतिहासिक रूप से उदारवाद ने मुक्त बाज़ार और राज्य की न्यूनतम भूमिका का पक्ष लिया है। हालाँकि अब वे कल्याणकारी राज्य की भूमिका को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को कम करने वाले उपायों की जरूरत है।

सभ्य समाज से उनका क्या मतलब है? जिस समाज में कानून का राज नहीं होता वहाँ स्वतंत्रता में हस्तक्षेप किस प्रकार होता है।

स्वतंत्रता

मामले में राज्य या किसी बाहरी सत्ता को कोई हस्तक्षेप करने की ज़रूरत नहीं है। आसान शब्दों में कहें तो, स्वसंबद्ध कार्य वे हैं जिनके बारे में कहा जा सके कि 'ये मेरा काम है, मैं इसे वैसे करूँगा, जैसा मेरा मन होगा।' या "अगर ये आपके ऊपर असर नहीं डालते तो इससे आपको क्या मतलब है?" इसके विपरीत ऐसे कार्यों में जो दूसरों पर असर डालते हैं या जिनसे बाकी लोगों को कुछ हानि हो सकती है, बाहरी प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में परसंबद्ध कार्य वे हैं जिनके बारे में कहा जा सके कि अगर तुम्हारी गतिविधियों से मुझे कुछ नुकसान होता है, तो किसी न किसी बाहरी सत्ता को चाहिए कि मुझे इन नुकसानों से बचाए।" स्वतंत्रता से जुड़े मामलों में राज्य किसी व्यक्ति को ऐसे कार्य करने से रोक सकता है जो किसी अन्य को नुकसान पहुँचाता हो।

चूँकि स्वतंत्रता मानव समाज के केंद्र में है और गरिमापूर्ण मानव जीवन के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण है, इसलिए इसपर प्रतिबंध बहुत ही खास स्थिति में लगाए जा सकते हैं। प्रतिबंध लगाने के लिए ज़रूरी है कि किसी को होने वाली 'हानि' गंभीर हो। छोटी-मोटी 'हानि' के लिए मिल कानून की ताकत की जगह केवल सामाजिक रूप से अमान्य करने के सुझाव देता है। उदाहरण के लिए किसी बहुमंजिले भवन में ऊँची आवाज़ में संगीत बजाने पर इमारत के अन्य रहवासियों द्वारा सामाजिक असहमति जताना काफी होना चाहिए। इसमें पुलिस को शामिल नहीं किया जाना चाहिए। जो व्यक्ति औरों को होने वाले नुकसान की परवाह न करते हुए ऊँची आवाज़ में संगीत सुनता है, चाहें तो बाकी लोग उसका अभिवादन करना बंद कर सकते हैं। ऊँची आवाज़ में संगीत सुनना बाकी लोगों को बातचीत करने, सोने और अपना संगीत सुनने से रोकता है। ये छोटे-छोटे नुकसान हैं और इनके लिए केवल सामाजिक असहमति दर्शाना काफी होगा। यह कानूनी दंड के लिए उपयुक्त मामला नहीं है। किन्हीं कार्यों (परसंबद्ध) पर कानूनी शक्ति से प्रतिबंध केवल तभी लगाना चाहिए जब वे निश्चित व्यक्तियों को गंभीर नुकसान पहुँचाए अन्यथा समाज को स्वतंत्रता की रक्षा के लिए थोड़ी असुविधा सहनी चाहिए।

लोगों को विविध जीवन शैलियों, विभिन्न दृष्टिकोण और अलग-अलग हितों को सहन करने के लिए तब तक तैयार रहना चाहिए, जब तक कि वे दूसरों को नुकसान न पहुँचाने लगे। लेकिन ऐसी सहनशीलता का विस्तार उन विचारों या कार्यों तक करने की ज़रूरत नहीं है, जो लोगों को खतरे में डाले या उनके प्रति नफरत का जहर फैलाए। घृणा का प्रचार और गंभीर क्षति पहुँचाने वाले कार्यों पर प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं। लेकिन हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रतिबंध इतने कड़े न हों कि स्वतंत्रता ही नष्ट हो जाए। उदाहरण के लिए जिसने किसी के प्रति नफरत फैलाई है, हम उसके लिए आजीवन कैद की माँग नहीं कर सकते। अगर वह राज्य द्वारा मिथ्या प्रचार से दूर रहने की चेतावनी के बाद भी न माने तो उसके आवागमन पर कुछ रोक लगाई जा सकती है या कोई सभा आयोजित करने के उसके अधिकार की कटौती की जा सकती है।

स्वतंत्रता

भारत में संवैधानिक चर्चाओं में ऐसी न्यायोचित सीमाओं के लिए औचित्यपूर्ण प्रतिबंध पद का इस्तेमाल किया गया है। कुछ प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं लेकिन ज़रूरी है कि वे समुचित हों और उन्हें तर्क की कसौटी पर कसा जा सके। ऐसे प्रतिबंधों में न तो

चिंतन-मंथन

परिधानों पर प्रतिबंध का मुद्दा

यदि अपने परिधान का चयन अपनी स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति है तो नीचे दी गई उन स्थितियों को किस तरह देखेंगे जिनमें खास तरह के परिधान पर प्रतिबंध लगाया गया है?

- ☐ माओ के शासनकाल में चीन में सभी लोगों को 'माओ सूट' पहनना पड़ता था। तर्क यह था कि यह समानता की अभिव्यक्ति है।
- ☐ एक मौलवी द्वारा सानिया मिर्जा के खिलाफ फतवा जारी किया गया क्योंकि उसका पहनावा उस पहनावे के खिलाफ माना गया जो महिलाओं के लिए तय किया गया है।
- ☐ क्रिकेट के टेस्ट मैचों में यह ज़रूरी है कि हर खिलाड़ी सफेद कपड़े पहने।
- ☐ छात्र-छात्राओं को विद्यालय में एक निर्धारित वेशभूषा में रहना पड़ता है।

वाद-विवाद

- ☐ मनचाहे परिधान पर प्रतिबंध सभी मामलों में न्यायोचित है या केवल कुछ में? यह स्वतंत्रता पर प्रतिबंध का मामला कब बन जाता है?
- ☐ इन प्रतिबंधों को लगाने का अधिकार किसको है? क्या धार्मिक नेताओं को परिधान के मामले में निर्णय देने का अधिकार होना चाहिए? क्या यह राज्य को तय करना चाहिए कि कोई क्या पहने? क्या क्रिकेट खेलते समय खिलाड़ियों के पहनावे के नियम तय करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड (ICC) उपयुक्त संस्था है?
- ☐ क्या प्रतिबंध आरोपित करना अन्यायपूर्ण होता है? क्या यह कई तरीके से व्यक्तियों की अभिव्यक्ति को कम करते हैं?
- ☐ आरोप को स्वीकार करने के परिणाम क्या होते हैं? क्या माओकालीन चीन में सभी लोगों के एक जैसे कपड़े पहनने से समाज में गरीबी कम हो गई?
- ☐ अगर महिलाएँ ऐसे कपड़े न पहन सकें जिनमें वे पुरजोर तरीके से संघर्ष कर पाएं तो, क्या यह माना जाए कि वे खेल में सहभागिता से वंचित की जा रही हैं? अगर क्रिकेट खिलाड़ी रंगीन कपड़े पहने तो क्या इससे खेल प्रभावित होगा?

अतिरेक हो और न ही असंतुलन क्योंकि तब यह समाज में स्वतंत्रता की सामान्य दशा पर असर डालेगा। हमें प्रतिबंध लगाने की आदत को विकसित नहीं होने देना चाहिए क्योंकि ऐसी आदत तो स्वतंत्रता को खतरे में डाल देगी।

स्वतंत्रता

2.5 सकारात्मक एवं नकारात्मक स्वतंत्रता

इस अध्याय में पहले हमने स्वतंत्रता के दो आयामों की चर्चा की थी। बाहरी प्रतिबंधों के अभाव के रूप में स्वतंत्रता और स्वयं को अभिव्यक्त करने के अवसरों के विस्तार के रूप में स्वतंत्रता। राजनीतिक सिद्धांत में इन्हें नकारात्मक और सकारात्मक स्वतंत्रता कहते हैं। नकारात्मक स्वतंत्रता उस क्षेत्र को पहचानने और बचाने का प्रयास करती है, जिसमें व्यक्ति अनुलंघनीय हो। जिसमें वह जो होना, बनना या करना चाहे हो सके, बन सके और कर सके। यह ऐसा क्षेत्र होगा जिसमें किसी बाहरी सत्ता का हस्तक्षेप नहीं होगा। यह छोटा-सा पवित्र क्षेत्र है, जिसमें व्यक्ति कुछ भी करे, लेकिन उसमें हस्तक्षेप नहीं किया जाता। अहस्तक्षेप के इस छोटे से क्षेत्र का होना इस बात की स्वीकृति है कि मानव प्रकृति और मानव गरिमा को एक ऐसे क्षेत्र की आवश्यकता है, जिसमें व्यक्ति दूसरों से अबाधित रूप में व्यवहार कर सके। यह क्षेत्र कितना बड़ा होना चाहिए और इसमें क्या-क्या शामिल होना चाहिए? ये वाद-विवाद के विषय हैं और बने रहेंगे क्योंकि अहस्तक्षेप का क्षेत्र जितना बड़ा होगा, स्वतंत्रता उतनी ही अधिक होगी।

हमें जो मानने की ज़रूरत है, वह यह है कि नकारात्मक स्वतंत्रता की परंपरा व्यक्ति के लिए एक ऐसे दायरे की बात कहती है जो अनुल्लंघनीय हो, जिसमें व्यक्ति स्वयं को व्यक्त कर सके। अगर यह क्षेत्र बहुत छोटा है, तो मानव गरिमा में कटौती होती है। मिसाल के तौर पर ऐसे दायरे को चिन्हित करने के लिए यह सवाल पूछा जा सकता है। विद्यालय, खेल का मैदान और कार्यालय जैसी विभिन्न स्थितियों में पहनावे का चयन क्या ऐसा मामला है, जो अहस्तक्षेप के लघुत्तम क्षेत्र में आता है और क्या इसलिए यह ऐसा चयन है जिसमें कोई बाहरी सत्ता दखल नहीं दे सकती या यह ऐसा मामला है, जिसमें राज्य, धार्मिक सत्ता, आईसीसी या सीबीएसई जैसी कोई भी संस्था हस्तक्षेप कर सकती है। नकारात्मक स्वतंत्रता का तर्क होता है कि वह कौन-सा क्षेत्र है, जिसका स्वामी मैं हूँ? 'नकारात्मक स्वतंत्रता का तर्क यह स्पष्ट करता है कि व्यक्ति क्या करने से मुक्त है। इससे उलट सकारात्मक स्वतंत्रता के तर्क 'कुछ करने की स्वंतत्रता' के विचार की व्याख्या से जुड़े हैं। ये तर्क इस सवाल के जवाब में आते हैं कि 'मुझ पर शासन कौन करता है?' इस प्रश्न का आदर्श उत्तर होगा 'मैं स्वयं पर शासन करता हूँ।' सकारात्मक स्वतंत्रता के विमर्श की एक लंबी परंपरा है। जिससे रूसो, हेगेल, मार्क्स, गांधी, अरविंद और इन विचारकों से प्रेरणा लेने वालों में देखा जा सकता है। इस परंपरा का सरोकार व्यक्ति और समाज के संबधों की प्रकृति और स्थिति से है। यह परंपरा इन संबंधों को इस तरह सुधारना चाहती है कि किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में कम से कम अवरोध रहे। व्यक्ति एक पुष्प की तरह है। जब मिट्टी उपजाऊ हो, सूरज की रोशनी हो, पर्याप्त पानी हो और नियमित देखभाल हो तभी वह खिल पाता है।

व्यक्ति को अपनी क्षमताओं का विकास करने के लिए भौतिक, राजनीतिक एवं सामाजिक जगत में समर्थकारी सकारात्मक स्थितियों का लाभ मिलना ही चाहिए। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति ग़रीबी अथवा बेरोजगारी के कारण अवरूद्ध न हो और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसके पास पर्याप्त भौतिक साधन होने चाहिए। उसके पास निर्णय निर्माण की प्रक्रिया में भाग लेने का अवसर भी होना चाहिए जिससे कि बनने वाले कानूनों में उसकी इच्छा की झलक हो या कम से कम उसकी प्राथमिकताओं को ध्यान में लिया जाए। सबसे पहले तो अपने बुद्धि-विवेक के विकास के लिए शिक्षा और अच्छा जीवन जीने के लिए ज़रूरी अन्य अवसरों तक व्यक्ति की पहुँच होनी चाहिए।

सकारात्मक स्वतंत्रता के पक्षधरों का मानना है कि व्यक्ति केवल समाज में ही स्वतंत्र हो सकता है, समाज से बाहर नहीं और इसीलिए वह इस समाज को ऐसा बनाने का प्रयास करते हैं, जो व्यक्ति के विकास का रास्ता साफ करे। दूसरी ओर नकारात्मक स्वतंत्रता का सरोकार अहस्तक्षेप के अनुलंघनीय क्षेत्र से है, इस क्षेत्र से बाहर समाज की स्थितियों से नहीं। नकारात्मक स्वतंत्रता अहस्तक्षेप के इस छोटे क्षेत्र का अधिक से अधिक विस्तार करना चाहेगी। हालाँकि ऐसा करने में वह समाज के स्थायित्व को ध्यान में रखेगी। आमतौर पर दोनों तरह की स्वतंत्रताएँ साथ-साथ चलती हैं और एक दूसरे का समर्थन करती हैं लेकिन ऐसा भी हो सकता है कि निरकुंश शासक सकारात्मक स्वतंत्रता के तर्कों का सहारा लेकर अपने शासन को न्यायोचित सिद्ध करने की कोशिश करे।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' का मुद्दा 'अहस्तक्षेप के लघुत्तम क्षेत्र' से जुड़ा हुआ माना जाता है। जे.एस. मिल ने सबल तर्क रखे हैं कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रतिबंधित नहीं होनी चाहिए। यह चर्चा के लिए एक अच्छा प्रसंग है।

क्या हमें अपने पर्यावरण को नष्ट करने की आज़ादी है?

बहुत बार किसी पुस्तक, नाटक, फिल्म या किसी शोध पत्रिका के लेख पर प्रतिबंध लगाने की माँग उठती है। किसी पुस्तक पर प्रतिबंध लगाने की माँग को इस चर्चा के आलोक में देखा जाए। अभी तक हमने स्वतंत्रता को विकल्प निर्धारण के रूप में देखा जहाँ, सकारात्मक और नकारात्मक स्वतंत्रता के बीच फ़र्क किया गया। जहाँ हमने स्वतंत्रता पर न्यायोचित सीमाएँ लगाने की ज़रूरत को स्वीकार किया, लेकिन साथ ही यह भी माना कि इन सीमाओं को उचित प्रक्रिया और महत्त्वपूर्ण नैतिक तर्कों के समर्थन की ज़रूरत है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक बुनियादी मूल्य है और जो लोग इसको सीमित करना चाहते हैं, उनसे बचने के लिए समाज को कुछ असुविधाओं को सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। वाल्तेयर का कथन याद करें, ''तुम जो कहते हो मैं उसका समर्थन नहीं करता। लेकिन मैं मरते दम तक तुम्हारे कहने के अधिकार का बचाव करूँगा।'' हम इस अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से कितनी गहराई से प्रतिबद्ध हैं।

स्वतंत्रता

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

19वीं शताब्दी के ब्रिटेन के एक राजनीतिक विचारक जॉन स्टुअर्ट मिल ने अभिव्यक्ति तथा विचार और वाद-विवाद की स्वतंत्रता का बहुत ही भावपूर्ण पक्ष प्रस्तुत किया है। अपनी पुस्तक 'ऑन लिबर्टी' में उसने चार कारण पेश किए हैं कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता उन्हें भी होनी चाहिए जिनके विचार आज की स्थितियों में ग़लत या भ्रामक लग रहे हों।

पहला कारण तो यह कि कोई भी विचार पूरी तरह से गलत नहीं होता। जो हमें गलत लगता है उसमें सच्चाई का तत्त्व होता है। अगर हम गलत विचार को प्रतिबंधित कर देंगे तो इसमें छुपे सच्चाई के अंश को भी खो देंगे।

दूसरा कारण पहले कारण से जुड़ा है। सत्य स्वयं में उत्पन्न नहीं होता। सत्य विरोधी विचारों के टकराव से पैदा होता है। जो विचार आज गलत प्रतीत होता है वह सही तरह के विचारों के उदय में बहुमूल्य हो सकता है।

तीसरा, विचारों का यह संघर्ष केवल अतीत में ही मूल्यवान नहीं था, बल्कि हर समय में इसका सतत महत्त्व है। सत्य के बारे यह खतरा हमेशा होता है कि वह एक विचारहीन और रूढ़ उक्ति में बदल जाए। जब हम इसे विरोधी विचार के सामने रखते हैं तभी इस विचार का विश्वसनीय होना सिद्ध होता है।

अंतिम बात यह कि हम इस बात को लेकर भी निश्चित नहीं हो सकते कि जिसे हम सत्य समझते हैं वही सत्य है। कई बार जिन विचारों को किसी समय पूरे समाज ने गलत समझा और दबाया था, बाद में सत्य पाए गए। कुछ समाज ऐसे विचारों का दमन करते हैं 'जो आज उनके लिए स्वीकार्य नहीं हैं' लेकिन ये विचार आने वाले समय में बहुत मूल्यवान ज्ञान में बदल सकते हैं। दमनकारी समाज ऐसे संभावनाशील ज्ञान के लाभों से वंचित रह जाते हैं।

कुछ वर्ष पहले एक फिल्म निर्माता दीपा मेहता काशी में विधवाओं पर एक फिल्म बनाना चाहती थीं। यह फिल्म विधवाओं की व्यथा को खोजना चाहती थी। लेकिन राजनीति के एक हिस्से द्वारा इसका जबरदस्त विरोध हुआ। विरोधियों को लगता था कि इसमें भारत को बहुत बुरे तरीके से प्रस्तुत किया जाएगा। उन्हें यह भी लगता था कि यह फिल्म विदेशी दर्शकों की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए बनाई जा रही है और इससे प्राचीन नगर की बदनामी होगी। उन्होंने इस फिल्म को नहीं बनने दिया और परिणामस्वरूप फिल्म काशी में नहीं बनाई जा सकी। बाद में यह फिल्म कहीं और बनाई गई। इसी तरह से ओब्रे मेनन की 'रामायण रिटोल्ड' और सलमान रुश्दी की 'द सेटानिक वर्सेस' समाज के कुछ हिस्सों में विरोध के बाद प्रतिबंधित कर दी गई। 'द लास्ट टेम्पटेशन ऑफ क्राइस्ट' नामक फिल्म और 'मी नाथूराम बोलते' नाम का नाटक भी अन्य समूहों द्वारा विरोध के बाद प्रतिबंधित कर दिए गए। इस तरह के प्रतिबंध आसान लेकिन अल्पकालीन समाधान हैं क्योंकि यह तात्कालिक माँग को पूरा कर देते हैं, लेकिन समाज में स्वतंत्रता की दूरगामी संभावनाओं की दृष्टि से यह बहुत खतरनाक है, क्योंकि जब हम एक बार प्रतिबंध लगाने लगते हैं, तब प्रतिबंध लगाने की आदत विकसित हो जाती है। लेकिन क्या इसका मतलब यह है कि प्रतिबंध कभी लगाया ही नहीं जाना चाहिए। आखिरकार हम

फिल्मों की सेंसरशिप भी तो करते हैं। सेंसरशिप प्रतिबंध से अलग है। जिन सवालों पर अक्सर वाद-विवाद होता है, वे ये हैं कि किस स्थिति में प्रतिबंध लगाना चाहिए और किसमें नहीं? क्या प्रतिबंध कभी नहीं लगाए जाने चाहिए? इसी से जुड़ी दिलचस्प बात है कि इंग्लैंड में जो भी राजपरिवार के लिए काम करता है वह राजमहल की आंतरिक बातों के बारे में न लिखने के लिए एक समझौते से बंधा होता है।

अगर ऐसा कोई व्यक्ति राजमहल की नौकरी छोड़ने के बाद महल की राजनीति के बारे में कोई साक्षात्कार देना चाहे, लेख या पुस्तक लिखना चाहे तो वह ऐसा नहीं कर सकता। क्या यह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अन्यायपूर्ण प्रतिबंध है?

अलग-अलग तरह की सीमाएँ वजूद में हैं और वे हम पर विभिन्न स्थितियों में लागू होती हैं। इन प्रतिबंधों के बारे में सोचते समय हमें यह महसूस करने की ज़रूरत है कि जब ये प्रतिबंध किसी संगठित सामाजिक, धार्मिक या सांस्कृतिक सत्ता या राज्य की शक्ति के बल पर लगाए जाते हैं। तब ये हमारी स्वतंत्रता की कटौती इस प्रकार करते हैं कि उनके खिलाफ लड़ना मुश्किल हो जाता है। हालाँकि यदि हम स्वेच्छापूर्वक या अपने लक्ष्यों और आकांक्षाओं को पाने के लिए कुछ प्रतिबंधों को स्वीकार करते हैं, तो हमारी स्वतंत्रता उस प्रकार से सीमित नहीं होती। अगर हमें किन्हीं स्थितियों को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा रहा तब हम नहीं कह सकते कि हमारी स्वतंत्रता की कटौती की जा रही है।

हमने यह कहते हुए शुरुआत की थी कि स्वतंत्रता बाहरी प्रतिबंधों का अभाव है। अब हम यह महसूस कर चुके हैं कि स्वतंत्रता हमारे विकल्प चुनने के सामर्थ्य और क्षमताओं में छुपी होती है और जब हम विकल्प चुनते हैं तो हमें अपने कार्यों और उसके परिणामों की जिम्मेदारी भी स्वीकार करनी होगी। इसीलिए स्वतंत्रता के अधिकतर पक्षधर लोग मानते हैं कि बच्चों को माता-पिता की देखभाल में रखा जाना चाहिए। सही निर्णय लेने, उपलब्ध विकल्पों को विवेकपूर्वक जाँचने और अपने कार्यों की जिम्मेदारी अपने कंधों पर लेने की हमारी क्षमता का जितना विकास शिक्षा और निर्णय निर्माण के परिष्कार से होता है उतनी ही ज़रूरत इसको राज्य और समाज की सत्ता को सीमित करके पालने-पोसने की है।

स्वतंत्रता

प्रश्नावली

1. स्वतंत्रता से क्या आशय है? क्या व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता और राष्ट्र के लिए स्वतंत्रता में कोई संबंध है।

2. स्वतंत्रता की नकारात्मक और सकारात्मक अवधारणा में क्या अंतर है?

3. सामाजिक प्रतिबंधों से क्या आशय है? क्या किसी भी प्रकार के प्रतिबंध स्वतंत्रता के लिए आवश्यक हैं?

4. नागरिकों की स्वतंत्रता को बनाए रखने में राज्य की क्या भूमिका है?

5. अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का क्या अर्थ है? आपकी राय में इस स्वतंत्रता पर समुचित प्रतिबंध क्या होंगे? उदाहरण सहित बताइये।

प्रश्नावली

अध्याय 3

समानता

परिचय

यह अध्याय समानता की अवधारणा के बारे में है। समानता को एक मूल्य के रूप में संविधान में भी दर्ज किया गया है। यहाँ समानता की अवधारणा पर रोशनी डालते हुए निम्नलिखित सवालों को पड़ताल करने की कोशिश की गई है–

- ☐ समानता क्या है? हमें इस नैतिक और राजनीतिक आदर्श के बारे में क्यों सोचना चाहिए?
- ☐ क्या समानता का मतलब व्यक्ति से हर स्थिति में एक समान बरताव करना है?
- ☐ हम समानता की ओर कैसे बढ़ सकते हैं और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में असमानता को न्यूनतम कैसे कर सकते हैं?
- ☐ हम समानता के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक आयामों को अलग-अलग कैसे समझ सकते हैं?

इन सवालों को समझने और सुलझाने के क्रम में हमारा सामना— समाजवाद, मार्क्सवाद, उदारवाद और नारीवाद जैसी अपने समय की कुछ खास विचारधाराओं से होगा।

इस अध्याय में हम असमानता की स्थिति के बारे में कुछ आँकड़े और चित्र देखेंगे। ये केवल इसलिए दिए गए हैं कि हम असमानता की प्रकृति को समझ-बूझ सकें। इन आँकड़ों और चित्रों को याद करने की ज़रूरत नहीं हैं।

समानता

3.1 समानता महत्त्वपूर्ण क्यों है?

समानता एक शक्तिशाली नैतिक और राजनीतिक आदर्श के रूप में कई शताब्दियों से मानव–समाज को प्रेरित और निर्देशित करता रहा है। समानता की बात सभी आस्थाओं और धर्मों में समाविष्ट है। हर धर्म ईश्वर की रचना के रूप में प्रत्येक मनुष्य के समान महत्त्व की घोषणा करता है। समानता की अवधारणा एक राजनीतिक आदर्श के रूप में उन विशिष्टताओं पर ज़ोर देती है, जिसमें तमाम मनुष्य रंग, लिंग, वंश या राष्ट्रीयता के फ़र्क के बाद भी साझेदार होते हैं। समानता का दावा है कि समान मानवता के कारण सभी मनुष्य समान महत्त्व और सम्मान पाने योग्य हैं। साझी मानवता की यह धारणा ही 'सार्वभौम मानवाधिकार' या 'मानवता के प्रति अपराध' जैसी धारणाओं के पीछे रहती है।

बहुत सी सामाजिक संस्थाएँ और राजसत्ता लोगों में पद, धन, हैसियत या विशेषाधिकार की असमानता कायम रखती हैं। आधुनिक काल में 'सभी मनुष्यों की समानता' का राजसत्ता और ऐसी सामाजिक संस्थाओं के खिलाफ संघर्षों में एकजुटता लाने वाले नारे के रूप में इस्तेमाल किया गया है। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई फ्रांसीसी क्रांति में भू–सामंती, अभिजन–वर्ग और राजशाही के खिलाफ विद्रोह के दौरान 'स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा' फ्रांसीसी क्रांतिकारियों का नारा था। समानता की माँग बीसवीं शताब्दी में एशिया और अफ्रीका के उपनिवेश विरोधी स्वतंत्रता संघर्षों के दौरान भी उठी थी और यह लगातार उन संघर्षरत समूहों द्वारा उठाई जा रही है, जो महसूस करते हैं कि उन्हें समाज में किनारे कर दिया गया है, जैसे कि महिलाएँ या दलित।

आओ कुछ करके सीखें

विभिन्न धार्मिक ग्रंथों से ऐसे उदाहरण खोजो, जो समानता के विचार को सबल करते हों। इन उद्धरणों को अपनी कक्षा में पढ़ो।

मैं जिन लोगों को जानता हूँ, वे सभी किसी न किसी धर्म में विश्वास करते हैं। मैं जिन धर्मों के बारे में जानता हूँ, वे सभी समानता का संदेश देते हैं। जब ऐसा है, तो दुनिया में असमानता क्यों हैं?

समानता

आज समानता व्यापक रूप से स्वीकृत आदर्श है, जिसे अनेक देशों के संविधान और कानूनों में सम्मिलित किया गया है। फिर भी समाज में हमारे चारों ओर समानता की बजाय असमानता अधिक नज़र आती है। अपने देश में हम आलीशान आवासों के साथ-साथ झोपड़पट्टियाँ, विश्वस्तरीय सुविधाओं से लैस स्कूल और वातानुकूलित कक्षाओं के साथ-साथ पेयजल या शौचालय की सुविधा से भी विहीन स्कूल, भोजन की बर्बादी के साथ-साथ भुखमरी देख सकते हैं। कानून जो वायदा करता है और जो हमारे चारों ओर मौजूद है, उनके बीच अंतर बिल्कुल स्पष्ट है।

नीचे विश्व और हमारे देश के स्तर पर असमानता को दर्शाने वाले कुछ आँकड़े दिए गए हैं। इन पर एक गहरी नजर डालें।

विश्व स्तर पर असमानता को दर्शाने वाले कुछ आँकड़े

1. दुनिया के 50 सबसे अमीर आदमियों की सामूहिक आमदनी दुनिया के 40 करोड़ सबसे गरीब लोगों की सामूहिक आमदनी से अधिक है।
2. दुनिया की 40 प्रतिशत गरीब जनसंख्या का दुनिया की कुल आमदनी में हिस्सा केवल 5 प्रतिशत है, जबकि 10 प्रतिशत अमीर लोग दुनिया की 54 प्रतिशत आमदनी पर नियंत्रण करते हैं।
3. पहली दुनिया खासकर उत्तरी अमेरिका और पश्चिमी योरोप के अगड़े औद्योगिक देशों में दुनिया की आबादी का 25 प्रतिशत हिस्सा रहता है, लेकिन दुनिया के 86 प्रतिशत उद्योग इन्हीं देशों में हैं और दुनिया की 80 प्रतिशत ऊर्जा इन्हीं देशों में इस्तेमाल की जाती है।
4. इन अगड़े औद्योगिक देशों के निवासी भारत या चीन जैसे विकासशील देशों के निवासी की तुलना में कम से कम तीन गुना अधिक पानी, दस गुना ऊर्जा, तेरह गुना लोहा और इस्पात तथा चौदह गुना कागज़ का उपभोग करता है।
5. गर्भावस्था से जुड़े कारणों से मरने का खतरा नाइजीरिया के लिए 18 में से 1 मामले में हैं जबकि कनाडा के लिए यही खतरा 8700 में से 1 मामले में है।
6. जमीन के अंदर से निकलने वाले ईंधन (कोयला, पेट्रोलियम और गैस) के जलने से दुनियाभर में जो कार्बन डाई ऑक्साइड निकलती है, उसमें से पहली दुनिया के औद्योगिक देशों का हिस्सा दो तिहाई है। अम्लीय वर्षा (एसिड रेन) के लिए जिम्मेदार सल्फर और नाइट्रोजन ऑक्साइड का भी तीन चौथाई हिस्सा इन्हीं देशों द्वारा उत्सर्जित होता है। ज़्यादा प्रदूषण फैलाने वाले बहुत सारे उद्योगों को विकसित देशों से हटाकर विकासशील देशों में लगाया जा रहा है।

स्रोत- मानव विकास रिपोर्ट, 2005, यूनाइटेड नेशंस डेवलपमेंट प्रोग्राम।

समानता

भारत में आर्थिक असमानता को दर्शाने वाले कुछ आँकड़े

यहाँ भारत की 2001 की जनगणना से लिए गए घरेलू संपदा और सुविधाओं के बारे में कुछ आँकड़े प्रस्तुत हैं। इनको याद करने की आवश्यकता नहीं है। इन आँकड़ों को गाँव और शहर के बीच की असमानता को समझने के लिए पढ़िए। आपका परिवार इन आँकड़ों में कहाँ आता है?

परिवार जिनके पास है...	ग्रामीण परिवार (%)	शहरी परिवार (%)	अपने परिवार के लिए (✓) या (×) लगाएँ
बिजली का कनेक्शन	44	88	
मकान में सरकारी नल का कनेक्शन	10	50	
मकान में स्नानघर	23	70	
टेलिविजन	19	64	
स्कूटर/मोपेड/मोटर साइकिल	7	25	
कार/जीप/वेन	1	6	

हमारे चारों और बहुत-सी असमानताएँ ऐसी हैं, जिन पर कोई आपत्ति नहीं करता। ऐसे में देश और दुनिया की असमानताओं पर बात करना बकवास है। ज़रा इस पर ही ध्यान दो कि कैसे मेरे माता-पिता मेरे भाई की तरफदारी करते हैं।

यहाँ हमारा सामना एक विरोधाभास से होता है। लगभग हर कोई समानता के आदर्श को स्वीकार करता है, जबकि लगभग हर तरफ हमें असमानता के दर्शन होते हैं। हम एक ऐसी जटिल दुनिया में रहते हैं- जिसमें धन-संपदा, अवसर, कार्य स्थिति और शक्ति की भारी असमानता है। क्या हमें इस तरह की असमानता से चिंतित होना चाहिए? क्या ये सामाजिक जीवन के स्थायी और अपरिहार्य लक्षण हैं, जो मनुष्यों की प्रतिभा और योग्यता के साथ-साथ सामाजिक विकास और संपन्नता में उनके योगदान के अंतर को भी प्रतिबिंबित करते हैं? क्या ये असमानताएँ हमारी सामाजिक स्थिति और नियमों के कारण पैदा होती हैं? ये ऐसे प्रश्न हैं जिन्होंने दुनिया भर के लोगों को वर्षों से परेशान कर रखा है।

इस तरह के सवालों ने समानता को सामाजिक और राजनीतिक सिद्धांत का केंद्रीय विषय बना दिया। राजनीतिक सिद्धांत के छात्र को सवालों की एक लंबी शृंखला का सामना करना पड़ता है। इसी तरह का एक सवाल है कि, समानता का क्या निहितार्थ है? जबकि हम बहुत से मायनो में बड़े स्पष्ट रूप से अलग हैं, यह बात कहने का आशय क्या है कि हम समान हैं? हम समानता के आदर्श के माध्यम से क्या पाना चाहते हैं? क्या हम आय और रुतबे के सभी अंतरों को मिटाने का प्रयास कर रहे हैं? दूसरे शब्दों मे, हम किस तरह की और किसके लिए समानता पाना चाहते हैं? समानता की अवधारणा के बारे में कुछ और प्रश्न भी उठाए गए हैं। हम यहाँ उन पर भी विचार करेंगे। समानता को बढ़ावा देने के लिए क्या हमें सभी लोगों से हमेशा बिल्कुल एक तरह का व्यवहार करना चाहिए?

समानता

3.2 समानता क्या है?

इन चित्रों पर एक नज़र डालें।

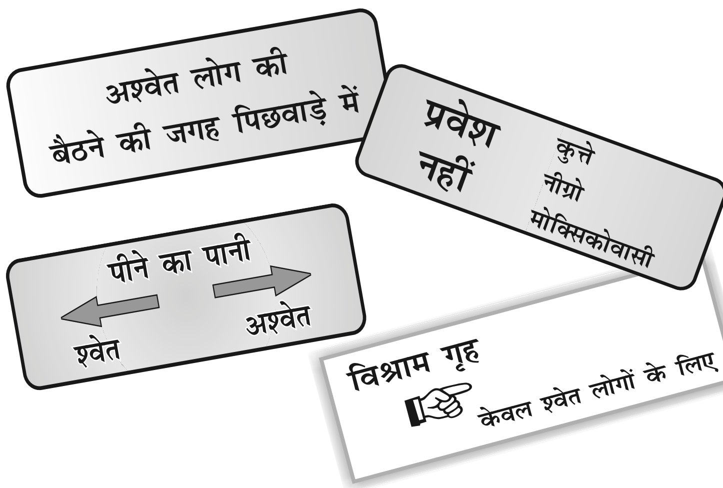

ये चित्र मनुष्यों के बीच नस्ल और रंग के आधार पर भेदभाव की ओर संकेत करते हैं। ये हममें से अधिकांश को अस्वीकार्य हैं। वास्तव में इस तरह के भेदभाव समानता के हमारे आत्म–बोध का उल्लंघन करता है। समानता का हमारा आत्म–बोध कहता है कि साझी मानवता के कारण सभी मनुष्य बराबर सम्मान और परवाह के हकदार हैं।

हालाँकि लोगों से बराबर सम्मान का व्यवहार करने का मतलब ज़रूरी नहीं कि हमेशा एक जैसा व्यवहार करना भी हो। कोई भी समाज अपने सभी सदस्यों के साथ सभी स्थितियों में पूर्णतया एक समान बरताव नहीं करता। समाज के सहज कार्य–व्यापार के लिए कार्य का विभाजन ज़रूरी है। अलग–अलग काम और अलग–अलग लोगों को महत्त्व और लाभ भी अलग–अलग मिलता है। कई बार इस बरताव में यह अंतर न केवल स्वीकार्य हो सकता है, बल्कि ज़रूरी भी लग सकता है। उदाहरण के लिए प्रधानमंत्री या सेना के जनरल को विशेष सरकारी दर्ज़ा या सम्मान देना हमें तब तक समानता की धारणा के विपरीत नहीं लगता जब तक कि उसका दुरुपयोग न हो। लेकिन कुछ अलग किस्म की असमानताएँ अन्यायपूर्ण लग सकती हैं।

अब सवाल यह उठता है कि कौन–सी विशिष्टताएँ और विभेद स्वीकार किए जाने लायक हैं और कौन–सी नहीं। कई बार लोगों से अलग तरह का बरताव इसलिए किया जाता है कि उनका जन्म किसी खास धर्म, नस्ल, जाति या लिंग में हुआ है। हम असमानता के इन आधारों को अस्वीकार करते हैं। लेकिन लोगों की आकांक्षाएँ और लक्ष्य अलग–अलग हो सकते हैं और हो सकता है कि सभी को समान सफलता न मिले। अगर वे अपने अंदर

छुपी संभावनाओं को विकसित करने में सक्षम हैं तो ऐसा महसूस नहीं होगा कि समानता खतरे में है। कुछ लोग अच्छे संगीतकार हो सकते हैं, जबकि कुछ नहीं। कुछ प्रसिद्ध वैज्ञानिक बन सकते हैं, जबकि कुछ और अपने कड़े परिश्रम या चेतना के लिए विख्यात हो सकते हैं। समानता के आदर्श से जुड़े होने का यह मतलब नहीं है कि सभी तरह के अंतरों का उन्मूलन हो जाए। इसका मतलब केवल यह है कि हमसे जो व्यवहार किया जाता है और हमें जो भी अवसर प्राप्त होते हैं, वे जन्म या सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित नहीं होने चाहिए।

अवसरों की समानता

समानता की अवधारणा में यह निहित है कि सभी मनुष्य अपनी दक्षता और प्रतिभा को विकसित करने के लिए तथा अपने लक्ष्यों और आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए समान अधिकार और अवसरों के हकदार हैं। इसका आशय यह है कि समाज में लोग अपनी पसंद और प्राथमिकताओं के मामलों में अलग हो सकते हैं। उनकी प्रतिभा और योग्यताओं में भी अंतर हो सकता है और हो सकता है इस कारण से कुछ लोग अपने चुने हुए क्षेत्रों में बाकी लोगों से ज़्यादा सफल हो जाएँ। लेकिन केवल इसलिए कि कोई क्रिकेट में पहले पायदान पर पहुँच गया है या कोई बहुत सफल वकील बन गया है, समाज को असमान नहीं माना जा सकता। दूसरे शब्दों में सामाजिक दर्ज़ा, संपत्ति या विशेषाधिकारों में समानता का अभाव होना महत्त्वपूर्ण नहीं है लेकिन शिक्षा, स्वास्थ्य और सुरक्षित आवास जैसी बुनियादी चीज़ों की उपलब्धता में असमानताओं से कोई समाज असमान और अन्यायपूर्ण बनता है।

प्राकृतिक और सामाजिक असमानताएँ

राजनीतिक सिद्धांत में प्राकृतिक असमानताओं और समाजजनित असमानताओं में अंतर किया जाता है। प्राकृतिक असमानताएँ लोगों में उनकी विभिन्न क्षमताओं, प्रतिभा और उनके अलग-अलग चयन के कारण पैदा होती हैं। समाजजनित असमानताएँ वे होती हैं, जो समाज में अवसरों की असमानता होने या किसी समूह का दूसरे के द्वारा शोषण किए जाने से पैदा होती हैं।

प्राकृतिक असमानताएँ लोगों की जन्मगत विशिष्टताओं और योग्यताओं का परिणाम मानी जाती हैं। यह आमतौर पर मान लिया जाता है कि प्राकृतिक विभिन्नताओं को बदला नहीं जा सकता। दूसरी ओर वे सामाजिक असमानताएँ हैं, जिन्हें समाज ने पैदा किया है। उदाहरणस्वरूप, कुछ समाज बौद्धिक काम करने वालों को शारीरिक कार्य करने वालों से अधिक महत्त्व देते हैं और उन्हें अलग तरीके से लाभ देते हैं। वे विभिन्न वंश, रंग या जाति के लोगों के साथ भिन्न-भिन्न व्यवहार करते हैं। इस तरह के भेदभाव में समाज के मूल्य प्रतिबिंबित होंगे और इनमें से कुछ हमें निश्चित रूप से अनुचित लग सकते हैं।

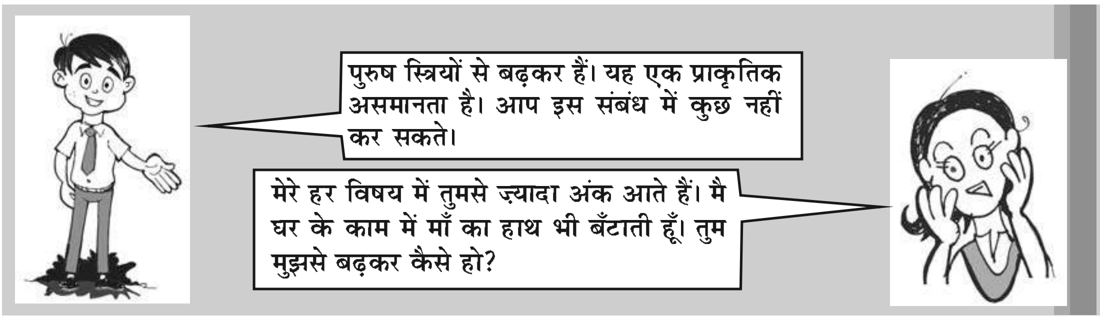

प्राकृतिक और समाजमूलक असमानताओं में फ़र्क करना इसलिए भी उपयोगी होता है कि इससे स्वीकार की जा सकने लायक और अन्यायपूर्ण असमानताओं को अलग-अलग करने में मदद मिलती है। लेकिन दो तरह की असमानताओं में फ़र्क हमेशा साफ और अपने आप स्पष्ट नहीं होता। उदाहरण के लिए जब लोगों के बरताव में कुछ असमानताएँ लंबे काल तक विद्यमान रहती हैं, तो वे हमें मनुष्य की प्राकृतिक विशेषताओं पर आधारित लगने लगती हैं। ऐसा लगने लगता है जैसे कि वे जन्मगत हों और आसानी से बदल नहीं सकती। उदाहरण के लिए, औरतें अनादि काल से 'अबला' कही जाती थीं। उन्हें भीरु एवं पुरुषों से कम बुद्धि का माना जाता था, जिन्हें विशेष संरक्षण की ज़रूरत थी। इसलिए यह मान लिया गया था कि औरतों को समान अधिकार से वंचित करना न्यायसंगत है। अफ़्रीका में काले लोग उनके औपनिवेशिक शासकों द्वारा कम बुद्धिवाले, निरे बच्चे और महज शारीरिक श्रम, खेल-कूद और संगीत में बेहतर माने गए। यह धारणा दासप्रथा जैसी संस्थाओं को न्यायोचित ठहराने में प्रयुक्त हुई। ऐसे सभी मानकों और मूल्यांकनों पर अब सवाल उठाए जा रहे हैं। उन्हें प्राकृतिक लक्षणों पर आधारित मानने से अधिक जनता की शक्ति और राष्ट्र की सत्ता के बीच के फ़र्क का प्रतिबिंब माना जाता है।

प्राकृतिक विशिष्टता की धारणा से एक और समस्या उत्पन्न होती है। वह यह कि प्राकृतिक मानी गयी कुछ भिन्नताएँ अब अपरिवर्तनीय नहीं रहीं। उदाहरणस्वरूप, चिकित्सा विज्ञान और तकनीकी प्रगति ने विकलांग व्यक्तियों का समाज में प्रभावी ढंग से काम करना संभव बना दिया है। आज कंप्यूटर नेत्रहीन व्यक्ति की मदद कर सकते हैं, पहियादार कुर्सी और कृत्रिम पाँव शारीरिक अक्षमता के निराकरण में सहायक हो सकते हैं। यहाँ तक कि कॉस्मेटिक सर्जरी से किसी व्यक्ति की शक्ल-सूरत भी बदली जा सकती है। प्रसिद्ध भौतिकविद् स्टीफन हॉकिन्स शायद ही चल या बोल सकते हैं, पर उन्होंने विज्ञान में बड़ा योगदान किया है। आज अगर विकलांग लोगों को उनकी विकलांगता से उबरने के लिए ज़रूरी मदद और उनके कामों के लिए उचित पारिश्रमिक देने से इस आधार पर इनकार

कर दिया जाए कि प्राकृतिक रूप से वे कम सक्षम हैं, तो यह अधिकतर लोगों को अन्यायपूर्ण लगेगा।

इन सब जटिलताओं के कारण प्राकृतिक और सामाजिक असमानताओं के बीच के फर्क को किसी समाज के कानून और नीतियों का निर्धारण करने में मानदंड के तौर पर उपयोग करना कठिन होता है। इसी कारण से बहुत-से सिद्धातकार अपने चयन से पैदा हुई असमानता और व्यक्ति के विशेष परिवार या परिस्थितियों में जन्म लेने से पैदा हुई असमानता में फ़र्क करते हैं। यह दूसरी तरह की असमानता ही समानता के पक्षधर लोगों के सरोकार का स्रोत है। वे चाहते हैं कि परिवेश से जन्मी असमानता को न्यूनतम और समाप्त किया जाए।

3.3 समानता के तीन आयाम

हमने इस सवाल पर विचार किया कि किस प्रकार के सामाजिक अंतर स्वीकार किए जा सकते हैं। इस पर विचार करने के बाद हमें यह सोचने की ज़रूरत है कि समानता के वे कौन-कौन से आयाम है जिन्हे हम पाना चाहते हैं। समाज में व्याप्त अलग-अलग तरह की असमानताओं को पहचानते समय विभिन्न विचारकों और विचारधाराओं ने समता के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक तीन आयामों को रेखांकित किया। समानता के इन तीनों आयामों को लक्ष्य करते हुए ही एक अधिक न्यायपूर्ण और समतामूलक समाज की ओर बढ़ा जा सकता है।

राजनीतिक समानता

लोकतांत्रिक समाजों में आमतौर पर सभी सदस्यों को समान नागरिकता प्रदान करना राजनीतिक समानता में शामिल है। आप नागरिकता के अध्याय में पढ़ेंगे कि समान नागरिकता अपने साथ कुछ मूल अधिकार मसलन मतदान का अधिकार, कहीं भी आने-जाने, संगठन बनाने और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और धार्मिक विश्वास की आज़ादी लाती है। ये ऐसे अधिकार हैं, जो नागरिकों को अपना विकास करने और राज्य के काम-काज में हिस्सा लेने में सक्षम बनाने के लिए आवश्यक माने जाते हैं। लेकिन ये केवल औपचारिक अधिकार हैं, जिन्हें औपचारिक संविधान और कानूनों द्वारा सुनिश्चित किया गया है। हम जानते हैं कि सभी नागरिकों को समान अधिकार देने वाले देशों में भी काफी असमानता बरकरार है। ऐसी असमानताएँ अमूमन सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में नागरिकों को उपलब्ध संसाधनों और अवसरों की भिन्नता का परिणाम होती हैं। इसलिए अक्सर समान अवसर या 'मुकाबले के लिए एक समान स्थितियों' की माँग उठती है। हमें याद रखना चाहिए कि राजनीतिक समानता न्यायपूर्ण और समतावादी समाज के गठन के लिए निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण घटक है लेकिन वह अपने आप में पर्याप्त नहीं होती।

समानता

सामाजिक समानता

राजनीतिक समानता या समान कानूनी अधिकार देना इस लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में पहला कदम था पर इसके साथ अवसरों की समानता देना भी महत्त्वपूर्ण था। राजनीतिक समानता की ज़रूरत उन बाधाओं को दूर करने में है जिन्हें दूर किए बिना लोगों का सरकार में अपनी बात रखने और उपलब्ध साधनों तक पहुँचना संभव नहीं होगा। समानता के उद्देश्य की आवश्यकता यह भी है कि विभिन्न समूह और समुदायों के लोगों के पास इन साधनों और अवसरों को पाने का बराबर और उचित मौका हो। इसके लिए यह ज़रूरी है कि सामाजिक और आर्थिक असमानताओं के प्रभावों को न्यूनतम किया जाए। समाज में सभी सदस्यों के जीवनयापन के लिए अन्य चीज़ों के अतिरिक्त पर्याप्त स्वास्थ्य सुविधा, अच्छी शिक्षा पाने का अवसर, उचित पोषक आहार व न्यूनतम वेतन जैसी कुछ न्यूनतम चीज़ों की गारंटी भी ज़रूरी माना गया। इन सुविधाओं के अभाव में समाज के सभी सदस्यों के लिए समान शर्तों पर स्पर्धा करना संभव नहीं होगा। जिस समाज में अवसरों की समानता विद्यमान न हो वहाँ में अंतर्निहित प्रतिभा का विशाल खजाना बर्बाद हो जाता है।

भारत में समान अवसरों के मद्देनजर एक विशेष समस्या सुविधाओं की कमी की वजह से नहीं, बल्कि कुछ सामाजिक रीति-रिवाज़ों से सामने आती है। देश के विभिन्न हिस्सों में औरतों को उत्तराधिकार का समान अधिकार नहीं मिलता, कुछेक गतिविधियों में उनके शामिल होने पर पाबंदी होती है और उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने से भी हतोत्साहित किया जाता है। ऐसे मामलों में राज्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। औरतों को समान कानूनी अधिकार प्रदान करना, सार्वजनिक स्थलों या रोज़गार में भेदभाव और परेशानी से बचाने वाली नीतियाँ बनाना और शिक्षण या कुछ अन्य पेशों में प्रवेश के लिए प्रोत्साहन देने जैसे उपाय करके राज्य यह भूमिका निभाता है। लोगों में जागरूकता बढ़ाने और इन अधिकारों का प्रयोग करने वालों को समर्थन देकर भी राज्य अपनी भूमिका निभा सकता है।

आर्थिक समानता

आर्थिक असमानता ऐसे समाज में विद्यमान होती है जिसमें व्यक्तियों और वर्गों के बीच धन, दौलत या आमदनी में खासी भिन्नता हो। आर्थिक असमानता की डिग्री नापने का एक तरीका तो यह है कि संपन्नतम और निर्धनतम समूहों के बीच का आनुपातिक अंतर नापा जाए। एक अन्य तरीका गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों की संख्या का आकलन करना है। यह सही है कि समाज में धन-दौलत या आमदनी की पूरी समानता संभवतः कभी विद्यमान नहीं रही। आज अधिकतर लोकतंत्र लोगों को समान अवसर उपलब्ध कराने का प्रयास करते हैं। यह माना जाता है कि समान अवसर कम से कम उन्हें अपनी हालत को सुधारने का मौका देते हैं जिनके पास प्रतिभा और संकल्प है। समान अवसरों के साथ भी असमानता बनी रह सकती है, लेकिन इसमें यह संभावना छुपी है कि आवश्यक प्रयासों द्वारा कोई भी समाज में अपनी स्थिति बेहतर कर सकता है।

समानता

शिक्षा में असमानता

नीचे दी गई तालिका में विभिन्न समुदायों की शैक्षिक स्थिति से जुड़े कुछ आँकड़े दिए गए हैं। इन समुदायों की शैक्षिक स्थिति में जो अंतर हैं, क्या वे महत्त्वपूर्ण हैं? क्या इन अंतरों का होना केवल एक संयोग है या ये अंतर जाति-व्यवस्था के असर की ओर संकेत करते हैं? आप यहाँ जाति-व्यवस्था के अलावा और किन कारणों का प्रभाव देखते हैं?

शहरी भारत में उच्च शिक्षा में जातिगत समुदायों में असमानता

जाति/समुदाय	*प्रति हजार लोगों में स्नातकों की संख्या*
अनुसूचित जाति	47
मुस्लिम	61
हिन्दू (अन्य पिछड़ी जातियाँ)	86
अनुसूचित जनजाति	109
ईसाई	237
सिक्ख	250
हिन्दू(उच्च जातियाँ)	253
अन्य धार्मिक समुदाय	315
अखित भारतीय औसत	155

स्रोत-नेशनल सेंपल सर्वे आर्गेनाइजेशन, 55वाँ राउंड सर्वे, 1999-2000

लेकिन समाज के लिए गहरी खाई जैसी वे असमानताएँ अधिक खतरनाक हैं जो पीढियों से अनछुई रही हैं। अगर किसी समाज में लोगों के कुछ खास वर्ग के लोग पीढ़ियों से बेशुमार धन-दौलत और इसके साथ हासिल होने वाली सत्ता का उपभोग करते हैं, तो समाज वर्गों में बंट जाता है। एक ओर वे, जो पीढ़ियों से धन, विशेषाधिकार और सत्ता का उपभोग करते आये हैं और अन्य जो पीढ़ियों से गरीब बने रहे। कालक्रम में ऐसा वर्गभेद, आक्रोश और हिंसा को बढ़ावा दे सकता है। अमीर वर्गों की शक्ति के कारण ऐसे समाज को अधिक खुला व समतावादी बनाने के लिए सुधारना ज़्यादा कठिन साबित हो सकता है।

मार्क्सवाद और उदारवाद हमारे समाज की दो प्रमुख राजनीतिक विचारधाराएँ हैं। मार्क्स उन्नीसवीं सदी का एक प्रमुख विचारक था। मार्क्स ने दलील दी कि खाईनुमा असमानताओं का बुनियादी कारण महत्त्वपूर्ण आर्थिक संसाधनों जैसे- जल, जंगल, जमीन या तेल समेत अन्य प्रकार की संपत्ति का निजी स्वामित्व है। निजी स्वामित्व मालिकों के वर्ग को सिर्फ अमीर नहीं बनाता, उन्हें राजनीतिक ताकत भी देता है। यह ताकत उन्हें राज्य की नीतियों और कानूनों को प्रभावित करने में सक्षम बनाती है और वे लोकतांत्रिक सरकार के लिए खतरा साबित हो सकते हैं। मार्क्सवादी और समाजवादी महसूस करते हैं कि आर्थिक असमानताएँ सामाजिक रुतबे या विशेषाधिकार जैसी अन्य तरह की सामाजिक असमानताओं को बढ़ावा देती हैं। इसलिए समाज में असमानता से निबटने के लिए हमें समान अवसर उपलब्ध कराने से आगे जाने और आवश्यक संसाधनों और अन्य तरह की संपत्ति पर जनता का नियंत्रण कायम करने और सुनिश्चित करने की ज़रूरत है। ऐसे विचार विवादास्पद हो सकते हैं लेकिन उन्होंने ऐसे महत्त्वपूर्ण मुद्दे उठाए, जिनके समाधान करने की ज़रूरत है।

वाद-विवाद-संवाद

“ महिलाओं को सेना की लड़ाकू टुकड़ियों में शामिल होने और सेना के सर्वोच्च पद पर पहुँचने की अनुमति होनी चाहिए। ”

समानता

आँकड़े बोलते हैं

संयुक्त राज्य अमेरिका में नस्लीय असमानता

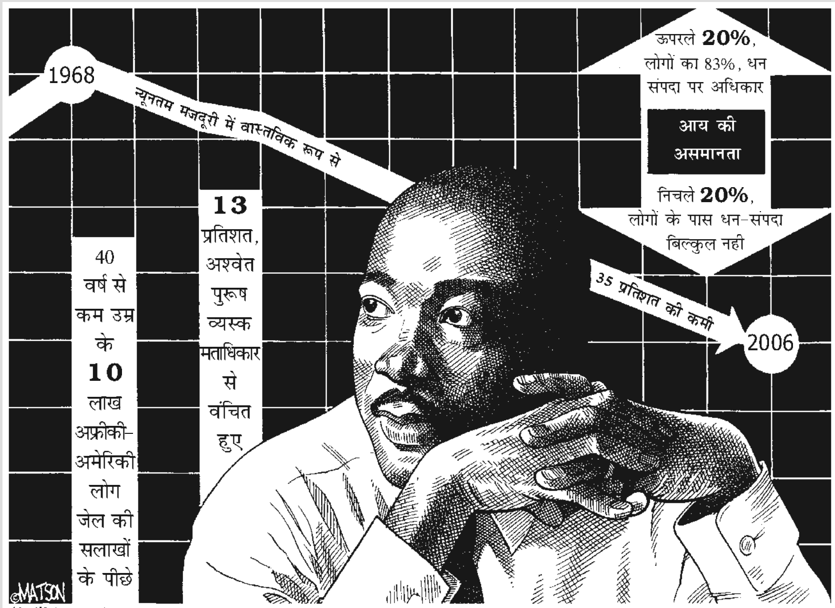

एक अधूरा स्वप्न

संयुक्त राज्य अमेरिका में नस्ली असमानता के बारे में और भी खोज करें। हमारे देश में कौन-कौन से समूह इसी प्रकार की असमानता के शिकार हैं। अमेरिका में इस असमानता को कम करने के लिए किस प्रकार की नीतियाँ अपनाई गई? क्या उनके अनुभवों से कुछ सीखा जा सकता है? क्या उन्होंने भी हमारे अनुभवों से कुछ सीखा है?

उदारवादी सिद्धांतों में विरोधी दृष्टिकोण पाया जा सकता है। उदारवादी समाज में संसाधनों और लाभांश के वितरण के सर्वाधिक कारगर और उचित तरीके के रूप में प्रतिद्वंद्विता के सिद्धांत का समर्थन करते हैं। वे मानते हैं कि सबके लिए जीवनयापन के न्यूनतम स्तर और समान अवसर प्रदान करने और सुनिश्चित करने के लिए राज्य को हस्तक्षेप करना है, लेकिन इससे समाज में खुद-ब-खुद समानता और न्याय स्थापित नहीं हो सकता। स्वतंत्र और निष्पक्ष परिस्थितियों में लोगों के बीच प्रतिस्पर्द्धा ही समाज में लाभांशों के वितरण का सबसे न्यायपूर्ण और कारगर उपाय होती है। उदारवादियों का मानना है कि जब तक प्रतिस्पर्द्धा स्वतंत्र और खुली होगी असमानताओं की खाइयाँ नहीं बनेंगी और लोगों को अपनी प्रतिभा और प्रयासों का लाभ मिलता रहेगा।

उदारवादियों के लिए नौकरियों में नियुक्ति और शैक्षणिक संस्थानों में प्रवेश के लिए चयन के उपाय के रूप में प्रतिस्पर्धा का सिद्धांत सर्वाधिक न्यायोचित और कारगर है। उदाहरणस्वरूप, अपने देश में अनेक छात्र व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में नामांकन की आशा करते हैं, जबकि प्रवेश

समानता

नारीवाद

नारीवाद स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों का पक्ष लेने वाला राजनीतिक सिद्धांत है। वे स्त्री या पुरुष नारीवादी कहलाते हैं, जो मानते हैं कि स्त्री-पुरुष के बीच की अनेक असमानताएँ न तो नैसर्गिक हैं और न ही आवश्यक। नारीवादियों का मानना है कि इन असमानताओं को बदला जा सकता है और स्त्री-पुरुष एक समतापूर्ण जीवन जी सकते हैं।

नारीवाद के अनुसार, स्त्री-पुरुष असमानता 'पितृसत्ता' का परिणाम है। 'पितृसत्ता' से आशय एक ऐसी समाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक व्यवस्था से है, जिसमें पुरुष को स्त्री से अधिक महत्त्व और शक्ति दी जाती है। पितृसत्ता इस मान्यता पर आधारित है कि पुरुष और स्त्री प्रकृति से भिन्न हैं और यही भिन्नता समाज में उनकी असमान स्थिति को न्यायोचित ठहराती है। नारीवादी इस नज़रिये पर सवालिया निशान लगाते हैं। इसके लिए वे स्त्री-पुरुष के जैविक विभेद और स्त्री-पुरुष के बीच सामाजिक भूमिकाओं के विभेद के बीच अंतर करने का आग्रह करते हैं। जैविक या लिंग-भेद (Sex) प्राकृतिक और जन्मजात होता है, जबकि लैंगिकता (Gender) समाजजनित है। इसे यूँ भी समझा जा सकता है कि मनुष्य का नर या मादा के रूप में जन्म होता है, लेकिन औरत या मर्द को जिन सामाजिक भूमिकाओं में हम देखते हैं, उन्हें समाज गढ़ता है। उदाहरण के लिए यह जीवविज्ञान का एक तथ्य है कि केवल औरत ही गर्भधारण करके बालक को जन्म दे सकती है, लेकिन जीवविज्ञान के तथ्य में यह निहित नहीं है कि जन्म देने के बाद केवल स्त्री ही बालक का लालन-पालन करे। नारीवादियों ने हमें सिखाया है कि स्त्री-पुरुष असमानता का अधिकांश प्रकृति ने नहीं समाज ने पैदा किया है।

'पितृसत्ता' ने श्रम का कुछ ऐसा विभाजन किया है जिसमें स्त्री 'निजी' और 'घरेलू' किस्म के कामों के लिए जिम्मेदार हैं, जबकि पुरुष की जिम्मेदारी 'सार्वजनिक' और 'बाहरी' दुनिया में है। नारीवादी इस विभेद पर भी सवाल खड़े करते हैं। उनका कहना है कि अधिकतर स्त्रियाँ 'सार्वजनिक' और 'बाहरी' क्षेत्र में भी सक्रिय होती हैं। इसीलिए दुनियाभर में अधिकतर स्त्रियाँ घर से बाहर अनेक क्षेत्रों में कार्यरत हैं। लेकिन घरेलू कामकाज की पूरी जिम्मेदारी केवल स्त्रियों के कंधों पर है। नारीवादी इसे स्त्रियों के कंधे पर 'दोहरा बोझ' बताते हैं। हालाँकि इस दोहरे बोझ के बावजूद स्त्रियों को सार्वजनिक क्षेत्र के निर्णयों में ना के बराबर महत्त्व दिया जाता है। नारीवाद का मानना है निजी/सार्वजनिक के बीच यह विभेद और समाज या व्यक्ति द्वारा गढ़ी हुई लैंगिक असमानता के सभी रूपों को मिटाया जा सकता है और मिटाया जाना चाहिए।

समानता

के लिए अत्यधिक कड़ी प्रतिस्पर्धा है। समय-समय पर सरकार और अदालतों ने शैक्षणिक संस्थानों और प्रवेश परीक्षाओं का नियमन करने के लिए हस्तक्षेप किया है, ताकि हर प्रत्याशी को स्पर्धा का उचित और समान अवसर मिले, फिर भी कुछ को प्रवेश नहीं मिलता, लेकिन इसे सीमित सीटों के बंटवारे का निष्पक्ष तरीका माना जाता है।

समाजवादियों से उलट उदारवादी नहीं मानते कि राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक असमानताएँ एक-दूसरे से अनिवार्यतया जुड़ी होती हैं। उनका मानना है कि इनमें से हर क्षेत्र की असमानताओं का निराकरण ठोस तरीके से करना चाहिए। इसलिए, लोकतंत्र राजनीतिक समानता प्रदान करने में मददगार हो सकता है, लेकिन सामाजिक भिन्नताओं और आर्थिक असमानताओं के समाधान के लिए विविध रणनीतियों की खोज करना भी ज़रूरी है। उदारवादियों के लिए असमानता अपने आप में समस्या नहीं है, बल्कि वे केवल ऐसी अन्यायी और गहरी असमानताओं को ही समस्या मानते हैं, जो लोगों को उनकी वैयक्तिक क्षमताएँ विकसित करने से रोकती हैं।

आओ कुछ करके सीखे

अपने विद्यालय के छात्र/छात्राओं पर ध्यान दो और उनमें नज़र आने वाली सभी आर्थिक-सामाजिक असमानताओं की सूची बनाओ।

3.4 हम समानता को बढ़ावा कैसे दे सकते हैं?

अभी समानता के उद्देश्य को पाने के सर्वाधिक वांछनीय तरीके के बारे में समाजवादियों और उदारवादियों के बीच के कुछ बुनियादी मतभेदों पर चर्चा की गई। जबकि इन अलग-अलग दृष्टिकोणों के तुलनात्मक गुणों और सीमाओं पर विश्वभर में बहस हो रही है, आज भी यह विचार करना जरूरी है कि समानता की ओर बढ़ने के लिए कौन-से सिंद्धात और नीतियाँ आवश्यक होंगी। खासतौर से सोचना है कि क्या समानता लाने के उद्देश्य के लिए सकारात्मक योजना उचित है? इस मुद्दे पर हाल के वर्षों में बहुत विवाद खड़ा हुआ है। इस विषय पर अगले खंड में चर्चा की जाएगी।

औपचारिक समानता की स्थापना

समानता लाने की दिशा में पहला कदम असमानता और विशेषाधिकार की औपचारिक व्यवस्था को समाप्त करना होगा। दुनियाभर में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक असमानताओं को कुछ रीति-रिवाज़ों और कानूनी व्यवस्थाओं से संरक्षित रखा गया है। इन रिवाज़ों या कानूनों द्वारा समाज के कुछ हिस्सों को तमाम किस्म के अवसरों और लाभों का आनन्द उठाने से रोका जाता था। बहुत सारे देशों में गरीब लोगों को मताधिकार से वंचित रखा जाता था। महिलाओं को बहुत सारे व्यवसाय और गतिविधियों में भाग लेने की इज़ाज़त नहीं थीं। भारत में जाति-व्यवस्था निचली जातियों को शारीरिक श्रम के अलावा कुछ भी करने से रोकती थी। कुछ देशों में केवल कुछ खास परिवारों के लोग ही सर्वोच्च पदों तक पहुँच सकते हैं।

समाजवाद

समाजवाद असमानताओं के जवाब में उपजे कुछ राजनीतिक विचारों का समूह है। ये खासकर वे असमानताएँ थीं, जो औद्योगिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से पैदा हुई और उसमें बाद तक बनी रहीं। समाजवाद का मुख्य सरोकार वर्तमान असमानताओं को न्यूनतम करना और संसाधनों का न्यायपूर्ण बँटबारा है। हालाँकि समाजवाद के पक्षधर पूरी तरह से बाज़ार के खिलाफ तो नहीं होते, लेकिन वे शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा जैसे आधारभूत क्षेत्रों में सरकारी नियमन, नियोजन और नियंत्रण का समर्थन ज़रूर करते हैं।

भारत में प्रमुख समाजवादी चिंतक राममनोहर लोहिया ने पाँच तरह की असमानताओं की पहचान की, जिनके खिलाफ एक साथ लड़ना होगा — स्त्री-पुरुष असमानता, चमड़ी के रंग पर आधारित असमानता, जातिगत असमानता, कुछ देशों का अन्य पर औपनिवेशिक शासन और निस्संदेह आर्थिक असमानता है। यह आज स्वप्रमाणित धारणा लग सकती है, लेकिन लोहिया के समय में समाजवादियों के बीच आम तौर पर यही तर्क चलता था कि असमानता का एकमात्र रूप वर्गीय असमानता है, जिसके खिलाफ संघर्ष अपरिहार्य है। दूसरी असमानताएँ गौण हैं या आर्थिक असमानता का खात्मा होते ही वे स्वत: खत्म हो जाएँगी। लोहिया का कहना था कि इन असमानताओं में से प्रत्येक की अलग-अलग जड़ें हैं और उन सबके खिलाफ अलग-अलग लेकिन एक साथ संघर्ष छेड़ने होंगे। उन्होंने एकांगी क्रांति की बात नहीं कही। उनके लिए उक्त पाँच असमानताओं के खिलाफ संघर्ष का अर्थ था पाँच क्रांतियाँ। उन्होंने इस सूची में दो और क्रांतियों को शामिल किया — व्यक्तिगत जीवन पर अन्यायपूर्ण अतिक्रमण के खिलाफ नागरिक स्वतंत्रता के लिए क्रांति तथा अहिंसा के लिए, सत्याग्रह के पक्ष में शस्त्रत्याग के लिए क्रांति। ये ही **सप्तक्रांतियाँ** थीं, जो लोहिया के अनुसार समाजवाद का आदर्श है।

समानता की प्राप्ति के लिए ज़रूरी है कि से सभी निषेध या विशेषाधिकारों का अंत किया जाए। चूँकि ऐसी बहुत-सी व्यवस्थाओं को कानून का समर्थन प्राप्त है इसलिए यह ज़रूरी होगा कि सरकार और कानून असमानता की व्यवस्थाओं को संरक्षण देना बंद करे। हमारा संविधान ने भी यही किया है। संविधान धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर भेदभाव करने का निषेध करता है। हमारा संविधान छुआछूत की प्रथा का भी उन्मूलन करता है। अधिकतर आधुनिक संविधान और लोकतांत्रिक सरकारें औपचारिक रूप से समानता के सिंद्धात को स्वीकार कर चुकी हैं और इस सिद्धांत को जाति, नस्ल, धर्म या लिंग पर ध्यान दिए बिना 'सभी नागरिकों को कानून के एक समान बर्ताव' के रूप में समाहित किया है।

विभेदक बरताव द्वारा समानता

जैसा कि हम देख चुके हैं, समानता के सिंद्धात को यथार्थ में बदलने के लिए औपचारिक समानता या कानून के समक्ष समानता आवश्यक तो है, लेकिन पर्याप्त नहीं। कभी-कभी यह सुनिश्चित करने के लिए कि लोग समान अधिकारों का उपभोग कर सकें, उनसे अलग-अलग बरताव करना आवश्यक होता है। इस उद्देश्य से लोगों के बीच कुछ अंतरों

समानता

को ध्यान में रखना होता है। उदाहरण के लिए विकलांगों की सार्वजनिक स्थानों पर विशेष ढलान वाले रास्तों (Ramp)की माँग न्यायोचित होगी, क्योंकि इससे ही उन्हें सार्वजनिक भवनों में प्रवेश करने का समान अवसर मिल सकेगा। इसी तरह रात में कॉल सेंटर में काम करने वाली महिला को कॉल सेंटर आते-जाते समय विशेष सुरक्षा की ज़रूरत हो सकती है। इससे उसके काम के समान अधिकार की रक्षा हो सकेगी। समानता की कटौती इन्हें नहीं, वरन् बढ़ावा देने वाले उपायों के रूप में देखा जाना चाहिए।

किस तरह के विभेद, अवसरों तक समान पहुँच को बाधित करते हैं और इन बाधाओं को दूर करने के लिए किस तरह की नीतियाँ अपनाई जानी चाहिए? आजकल इस तरह के सवालों पर लगभग हर समाज में चर्चा हो रही है। कुछ देशों ने अवसरों की समानता बढ़ाने के लिए 'सकारात्मक कार्यवाई' की नीतियाँ अपनाई हैं। अपने देश में हमने आरक्षण की नीति अपनाई है। अगले खंड में 'सकारात्मक कार्यवाई' के विचार को समझने का प्रयास करेंगे। हम 'सकारात्मक कार्यवाई' के परिप्रेक्ष्य में अपनाई गई कुछ नीतियों और उठाए गए कुछ मुद्दों को भी समझेंगे।

सकारात्मक कार्यवाई

सकारात्मक कार्यवाई इस विचार पर आधारित है कि कानून द्वारा औपचारिक समानता स्थापित कर देना पर्याप्त नहीं है। असमानताओं को मिटाने के लिए ज़रूरी होगा कि

समानता

आओ कुछ करके सीखे

अलग-अलग तरह की शारीरिक विकलांगता के शिकार छात्रों को अन्य छात्रों की भाँति सीखने के लिए आवश्यक सुविधाओं की एक सूची बनाओ। आपके विद्यालय में इनमें से कौन-कौन सी सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

असमानता की गहरी खाईयों को भरने वाले अधिक सकारात्मक कदम उठाए जाएँ। इसीलिए सकारात्मक कार्यवाई की अधिकतर नीतियाँ अतीत की असमानताओं के संचयी दुष्प्रभावों को दुरुस्त करने के लिए बनाई जाती हैं।

सकारात्मक कार्यवाई के कई रूप हो सकते हैं। इसमें वंचित समुदायों के लिए छात्रवृत्ति और हॉस्टल जैसी सुविधाओं पर वरीयता के आधार पर खर्च करने से लेकर नौकरियों और शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश के लिए विशेष व्यवस्था करने तक की नीतियाँ हो सकती हैं। अपने देश में वंचित समूहों को अवसर की समानता देने के लिए हमने नौकरियों और शिक्षा में आरक्षित स्थान या कोटा की नीति को अपनाया है। यह नीति बहुत वाद-विवाद और असहमति का केंद्र रही है। इस नीति की इस आधार पर वकालत की गई है कि कुछ समूह वर्जना और अलगाव के कारण सामाजिक पूर्वाग्रह और भेदभाव के शिकार रहे हैं। जो समुदाय अतीत में पीड़ित और समान अवसरों से वंचित रहे हैं, उनसे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे अन्य लोगों से समानता के आधार पर प्रतिस्पर्धा करें। इसीलिए एक समतामूलक और न्यायपूर्ण समाज के निर्माण के हित में उनको विशेष संरक्षण और सहायता देने की आवश्यकता है।

सकारात्मक कार्यवाई के रूप में विशेष सहायता को एक निश्चित समय अवधि तक चलने वाला तदर्थ उपाय माना गया। इसके पीछे मान्यता यह है कि विशेष बरताव इन समुदायों को वर्तमान वंचनाओं से उबरने में सक्षम बनाएगा और फिर ये अन्य समुदायों से समानता के आधार पर प्रतिस्पर्धा कर सकेंगे। हालाँकि सकारात्मक कार्यवाई की नीतियों का समाज को अधिक समतामूलक बनाने के लिए समर्थन किया गया, लेकिन कुछ सिद्धांतकार इन नीतियों के खिलाफ तर्क देते हैं। वे सवाल करते हैं कि क्या लोगों से विभेदकारी बरताव करने से कभी भी अधिक समानता की ओर ले जाएगा?

सकारात्मक विभेदीकरण, खासकर आरक्षण की नीतियों के आलोचक इन नीतियों के खिलाफ तर्क देने के लिए समानता के सिद्धांत का सहारा लेते हैं। इनका मानना है कि वंचितों को उच्च शिक्षा या नौकरियों में आरक्षण या कोटा देने का कोई भी प्रावधान अनुचित है, क्योंकि यह मनमाने तरीके से समाज के अन्य वर्गों को समान व्यवहार के अधिकार से वंचित करता है। आलोचकों का कहना है कि आरक्षण भी एक तरह का भेदभाव है। समानता की माँग है कि सब लोगों से बिल्कुल एक तरह से व्यवहार हो। जब हम व्यक्तियों के बीच जाति या रंग के आधार पर अंतर करते हैं, तब हम जातिगत और नस्लगत पूर्वाग्रहों और भी मजबूत कर रहे होते हैं। इन सिद्धांतकारों के लिए उन सामाजिक विशिष्टताओं को समाप्त करना महत्त्वपूर्ण है, जो समाज को विभाजित करती हैं।

समानता

इस बहस की रोशनी में यह प्रासंगिक होगा कि व्यक्ति के समान अधिकारों और राज्य के निर्देशक सिद्धांत के रूप में समानता के बीच फ़र्क किया जाए। व्यक्ति का किसी शैक्षिक संस्था में प्रवेश या सार्वजनिक क्षेत्र में रोजगार पाने का समान अधिकार है, लेकिन प्रतिस्पर्धा उचित होनी चाहिए। जब कभी कुछ सीमित स्थानों या नौकरियों के लिए प्रतिस्पर्धा हो तब वंचित समूहों के लोग अलाभकारी स्थिति के शिकार हो सकते हैं। ऐसे शिक्षार्थी जो अपने समुदाय में पढ़ने वालों की पहली पीढ़ी से आते हैं, अर्थात जिनके माता–पिता और पूर्वज अशिक्षित रहे हों, अपनी ज़रूरतों और परिस्थितियों के मामले में पढ़े–लिखे परिवारों के छात्रों से बहुत अलग होते हैं। दलित, स्त्री या वर्जना और वंचना के शिकार अन्य श्रेणियों से आने वाले सदस्य कुछ विशेष सहायता के पात्र और अधिकारी होते हैं। इस विशेष सहायता को उपलब्ध कराने हेतु राज्य को समानता लाने वाली सामाजिक नीतियाँ बनानी चाहिए। इन नीतियों से और उन्हें अन्य लोगों के साथ प्रतिस्पर्धा करने का उचित अवसर मिल सकेगा।

> **वाद-विवाद-संवाद**
>
> अनुसूचित जाति और जनजातियों के लिए सकारात्मक कार्यवाही (कोटा, छात्रवृत्ति, प्रशिक्षण आदि) की नीतियाँ निजी शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश के लिए भी लागू की जानी चाहिए।

तथ्य यह है कि शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं के क्षेत्र में भारत में वंचित जनसंख्या के लिए जितना किया जाना चाहिए था उससे बहुत कम किया गया है। स्कूली शिक्षा के स्तर पर असमानताएँ चौंकाने वाली हैं। ग्रामीण और शहरी झोपड़पट्टी के बहुत सारे गरीब बच्चों के स्कूल जाने की संभावना नहीं के बराबर है। यदि उन्हें अवसर मिल भी गया, तब उनके स्कूल के पास उन्हें देने के लिए कुछ नहीं होता। खासकर अभिजातवर्गीय स्कूलों की सुविधाओं की तुलना में ये बच्चे कुछ असमानताओं के साथ स्कूल में प्रवेश लेते हैं। ये असमानताएँ उनका पीछा नहीं छोड़ती और योग्यता बढ़ाने या नौकरी पाने की संभावनाओं पर लगातार चोट पहुँचाती रहती हैं। ये छात्र अभिजात समझे जाने वाले व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश पाने में बाधाओं का सामना करते हैं क्योंकि उनके पास विशेष कोचिंग के लिए ज़रूरी साधनों का अभाव होता है। व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की फीस भी इतनी ज़्यादा होती है कि उससे भी एक घेराबंदी जैसी हो जाती है। परिणामस्वरूप वे अधिक विशेषाधिकार और सुविधाओं वाले वर्गों से समानता के आधार पर प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते।

इस तरह की सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ समान अवसर की प्राप्ति में बाधक होती हैं। अधिकतर सिद्धांतकार आज इस बात को मानते हैं। समान अवसर के लक्ष्य से सभी सहमत हैं। विवाद उन नीतियों के बारे में है जो राज्य को इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपनानी चाहिए। क्या राज्य को वंचित समुदायों के लिए कुछ स्थान आरक्षित कर देने चाहिए, या उन्हें कम उम्र से ही विशेष सुविधाएँ उपलब्ध कराई जानी चाहिए, ताकि इन बच्चों की योग्यता और प्रतिभा का विकास हो सके? वंचित कौन है? इसे परिभाषित कैसे

समानता

किया जाए? क्या वंचितों की पहचान आर्थिक आधार पर की जानी चाहिए या जाति व्यवस्था से पैदा हुई सामाजिक असमानताओं के आधार पर? ये सामाजिक नीति के वे पहलू हैं, जिनके बारे में आज भी बहस हो रही है। अंततः हम जो भी नीतियाँ चुनते हैं, उन्हें सबके लिए समतामूलक और न्यायपूर्ण समाज बनाने में मिली सफलता के आधार पर जाँचना पड़ेगा।

समानता के विषय पर सोचते समय हमें प्रत्येक व्यक्ति को बिल्कुल एक जैसा मानने और प्रत्येक व्यक्ति को मूलतः समान मानने में अंतर करना चाहिए। मूलतः समान व्यक्तियों को विशेष स्थितियों में अलग-अलग बरताव की ज़रूरत हो सकती है। लेकिन ऐसे सभी मामलों में सर्वोपरि उद्देश्य समानता को बढ़ावा देना ही होगा। समानता के लक्ष्य को पाने के लिए अलग या विशेष बरताव के बारे में सोचा जा सकता है, लेकिन इसके लिए औचित्य सिद्ध करना और सावधानीपूर्वक पुनर्विचार आवश्यक होता है। चूँकि अलग-अलग समुदायों के लिए अलग-अलग बरताव जाति व्यवस्था और रंगभेद के अंग थे, इसलिए उदारवादी 'एक जैसा बर्ताव' के सिद्धांत से हटते हुए बहुत सावधान रहते हैं।

समानता के उद्देश्य से जुड़े बहुत से मुद्दे नारीवादी आंदोलन द्वारा उठाए गए। उन्नीसवीं सदी में स्त्रियों ने समान अधिकारों के लिए संघर्ष किया। उदाहरण के लिए उन्होंने मताधिकार, कॉलेज-यूनिवर्सिटी में डिग्री पाने का अधिकार और काम के लिए अधिकार की उसी प्रकार माँग की जैसे अधिकार पुरूषों को हासिल थे। हालाँकि जैसे ही उन्होंने नौकरियों में प्रवेश किया उन्हें महसूस हुआ कि स्त्रियों को इन अधिकारों को उपयोग में लाने के लिए विशेष सुविधाओं की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए उन्हें मातृत्व

चिंतन-मंथन

नीचे दी गई स्थितियों पर विचार करें। क्या इनमें से किसी भी स्थिति में विशेष और विभेदकारी बरताव करना न्यायोचित होगा?

- ☐ कामकाजी महिलाओं को मातृत्व अवकाश मिलना चाहिए।
- ☐ एक विद्यालय में दो छात्र दृष्टिहीन हैं। विद्यालय को उनके लिए कुछ विशेष उपकरण खरीदने के लिए धन-राशि खर्च करनी चाहिए।
- ☐ गीता बास्केटबॉल बहुत अच्छा खेलती है। विद्यालय को उसके लिए बास्केटबॉल कोर्ट बनाना चाहिए जिससे वह अपनी योग्यता का और भी विकास कर सके।
- ☐ जीत के माता-पिता चाहते हैं कि वह पगड़ी पहने। इरफान चाहते हैं कि वह जुम्मे (शुक्रवार)को नमाज़ पढ़े, ऐसी बातों को ध्यान में रखते हुए स्कूल को जीत से यह आग्रह नहीं करना चाहिए कि वह क्रिकेट खेलते समय हेलमेट पहने और इरफान के अध्यापक को शुक्रवार को उससे दोपहर बाद की कक्षाओं के लिए रुकने को नहीं कहना चाहिए।

अवकाश और कार्यस्थल पर बालवाड़ी जैसे प्रावधानों की आवश्यकता थी। इस प्रकार के विशेष बरताव के बिना वे न तो गंभीरतापूर्वक स्पर्धा में भाग ले सकेंगी और न ही सफल व्यावसायिक और निजी जीवन का आनंद उठा सकेंगी। दूसरे शब्दों में पुरुषों के समान अधिकारों के उपयोग के लिए उन्हें कई बार एक विशेष बरताव की ज़रूरत होती थी।

जब हम समानता के मुद्दे पर सोचते हैं और यह जाँचते हैं कि एक खास स्थिति में विशेष बरताव ज़रूरी है या नहीं तो हमें लगातार स्वयं से ही पूछने की ज़रूरत है कि क्या विशेष बरताव यह सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है कि एक समूह समान अधिकारों का उसी प्रकार आनंद उठा सके जैसा कि शेष समाज। हालाँकि यह सावधानी हमेशा बरतनी चाहिए कि विशेष बरताव वर्चस्व या शोषण की नई संरचनाओं को जन्म न दे अथवा यह विशेष बरताव समाज में विशेषाधिकार और शक्ति को फिर से स्थापित करने वाला एक और प्रभावशाली उपकरण न बन जाए। विशेष बरताव का उद्देश्य और औचित्य एक न्यायपरक और समतामूलक समाज को बढ़ावा देने के माध्यम के अलावा कुछ और नहीं है।

समानता

? प्रश्नावली

1. कुछ लोगों का तर्क है कि असमानता प्राकृतिक है जबकि कुछ अन्य का कहना है कि वास्तव में समानता प्राकृतिक है और जो असमानता हम चारों ओर देखते हैं उसे समाज ने पैदा किया है। आप किस मत का समर्थन करते हैं? कारण दीजिए।

2. एक मत है कि पूर्ण आर्थिक समानता न तो संभव है और न ही वांछनीय। एक समाज ज़्यादा से ज़्यादा बहुत अमीर और बहुत ग़रीब लोगों के बीच की खाई को कम करने का प्रयास कर सकता है। क्या आप इस तर्क से सहमत हैं? अपना तर्क दीजिए।

3. नीचे दी गई अवधारणा और उसके उचित उदाहरणों में मेल बैठायें।

(क) सकारात्मक कार्यवाई	(1) प्रत्येक वयस्क नागरिक को मत देने का अधिकार है।
(ख) अवसर की समानता	(2) बैंक वरिष्ठ नागरिकों को ब्याज की ऊँची दर देते हैं।
(ग) समान अधिकार	(3) प्रत्येक बच्चे को निःशुल्क शिक्षा मिलनी चाहिए।

4. किसानों की समस्या से संबंधित एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार छोटे और सीमांत किसानों को बाज़ार से अपनी उपज का उचित मूल्य नहीं मिलता। रिपोर्ट में सलाह दी गई कि सरकार को बेहतर मूल्य सुनिश्चित करने के लिए हस्तक्षेप करना चाहिए। लेकिन यह प्रयास केवल लघु और सीमांत किसानों तक ही सीमित रहना चाहिए। क्या यह सलाह समानता के सिद्धांत से संभव है?

5. निम्नलिखित में से किस में समानता के किस सिद्धांत का उल्लंघन होता है और क्यों?

(क) कक्षा का हर बच्चा नाटक का पाठ अपना क्रम आने पर पढ़ेगा।
(ख) कनाडा सरकार ने दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति से 1960 तक यूरोप के श्वेत नागरिकों को कनाडा में आने और बसने के लिए प्रोत्साहित किया।
(ग) वरिष्ठ नागरिकों के लिए अलग से रेलवे आरक्षण की एक खिड़की खोली गई।
(घ) कुछ वन क्षेत्रों को निश्चित आदिवासी समुदायों के लिए आरक्षित कर दिया गया है।

6. यहाँ महिलाओं को मताधिकार देने के पक्ष में कुछ तर्क दिए गए हैं। इनमें से कौन-से तर्क समानता के विचार से संगत हैं। कारण भी दीजिए।

(क) स्त्रियाँ हमारी माताएँ हैं। हम अपनी माताओं को मताधिकार से वंचित करके अपमानित नहीं करेंगे?

(ख) सरकार के निर्णय पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं को भी प्रभावित करते हैं इसलिए शासकों के चुनाव में उनका भी मत होना चाहिए।

(ग) महिलाओं को मताधिकार न देने से परिवारों में मतभेद पैदा हो जाएँगे।

(घ) महिलाओं से मिलकर आधी दुनिया बनती है। मताधिकार से वंचित करके लंबे समय तक उन्हें दबाकर नहीं रखा जा सकता है।

अध्याय 4

सामाजिक न्याय

परिचय

प्रेम के बहुत से रंग होते हैं और उनकी व्याख्या कर पाना आसान नहीं। फिर भी हम अपनी अंतर्दृष्टि से यह समझ लेते हैं कि प्रेम का क्या मतलब है। उसी तरह न्याय के बारे में भी हमारी एक सहजानुभूत समझ होती है, हालाँकि हो सकता है कि हम इसकी ठीक-ठीक परिभाषा नहीं दे सकें। इस मायने में न्याय भी बहुत हद तक प्रेम जैसा है। इसके अतिरिक्त प्रेम और न्याय, दोनों अपने समर्थकों में भावप्रवण अनुक्रियाएँ पैदा करते हैं। और जैसे प्रेम को, वैसे ही न्याय को भी कोई बुरा नहीं कहता है। प्रत्येक इन्सान अपने लिए और कुछ हद तक बाकियों के लिए भी न्याय चाहता है। लेकिन प्रेम और न्याय में एक अंतर भी है। प्रेम उन लोगों से हमारे रिश्तों का एक पहलू है, जिन्हें हम अच्छी तरह जानते हैं। जबकि, न्याय का सरोकार समाज में हमारे जीवन और सार्वजनिक जीवन को व्यवस्थित करने के नियमों और तरीकों से होता है, जिनके द्वारा समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच सामाजिक लाभ और सामाजिक कर्त्तव्यों का बंटवारा किया जाता है। इसीलिए, न्याय के प्रश्न राजनीति का लिए केंद्रीय महत्त्व की चीज है।

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप सामाजिक न्याय की अवधारणा से जुड़े निम्न मुद्दों को समझने में सक्षम होंगे—

- आप न्याय के उन सिद्धांतों को पहचान सकेंगे, जो अलग-अलग समाजों और अलग-अलग समय में सामने रखे गए।
- आप समझ पाएँगे कि वितरणात्मक न्याय का क्या अर्थ है।
- हम रॉल्स के इस तर्क की चर्चा करेंगे कि निष्पक्ष और न्यायपरक समाज सभी सदस्यों के हित में होता है और इसे तार्किक आधार पर सिद्ध किया जा सकता है।

न्याय क्या है?

तमाम संस्कृतियों और परंपराओं को न्याय के प्रश्न से जूझना पड़ा है, भले ही उन्होंने इस अवधारणा की व्याख्या भिन्न-भिन्न तरीकों से की हो। उदाहरण के लिए, प्राचीन भारतीय समाज में न्याय **धर्म** के साथ जुड़ा था और धर्म या न्यायोचित सामाजिक व्यवस्था कायम रखना राजा का प्राथमिक कर्त्तव्य माना जाता था। चीन के दार्शनिक कन्फ्यूशस का तर्क था कि गलत करने वालों को दंडित कर और भले लोगों को पुरस्कृत कर राजा को न्याय कायम रखना चाहिए। ईसा पूर्व चौथी सदी के एथेंस (यूनान) में प्लेटो ने अपनी पुस्तक **द रिपब्लिक** में न्याय के मुद्दों पर चर्चा की है। सुकरात और उनके युवा मित्रों, ग्लाउकॉन और एडीमंटस के बीच लंबी वार्ता के जरिए प्लेटो ने दिखाया कि हमारा न्याय से सरोकार होना चाहिए। उन नौजवानों ने सुकरात से पूछा कि हमें न्यायसंगत क्यों होना चाहिए। उनका आकलन यह था, कि जो अन्यायी हैं, वे न्यायी लोगों से ज़्यादा बेहतर स्थिति में हैं। जो अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए कानून तोड़ते-मरोड़ते हैं, कर चुकाने से कतराते हैं और झूठ और धोखाधड़ी का सहारा लेते हैं, वे अक्सर उन लोगों से ज़्यादा सफल होते हें, जो सच्चाई और न्याय के रास्ते पर चलते हैं। आपने आज भी लोगों को ऐसी भावना व्यक्त करते सुना होगा।

सुकरात ने उन नौजवानों को याद दिलाया कि यदि हर कोई अन्यायी हो जाए, यदि हर आदमी अपने स्वार्थ के लिए कानून के साथ खिलवाड़ करे, तो किसी के लिए भी अन्याय से लाभ पाने की गारंटी नहीं रहेगी, कोई भी सुरक्षित नहीं रहेगा और इससे संभव है, कि सबको नुकसान पहुँचे। इसलिए हमारा दीर्घकालिक हित इसी में है, कि हम कानून का पालन करें और न्यायी बनें। सुकरात ने स्पष्ट किया कि हमें न्याय के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझने की ज़रूरत है ताकि हम यह देख सकें कि न्यायसंगत होना क्यों महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने बताया कि न्याय का मतलब सिर्फ यह नहीं होता कि हम अपने मित्रों का भला करें और दुश्मनों का नुकसान करें या अपने हितों के पीछे लगे रहें। न्याय में तमाम लोगों की भलाई निहित रहती है। जैसे एक डॉक्टर अपने सभी मरीजों की भलाई की चिंता करता है, उसी तरह न्यायसंगत शासक या सरकार को भी जनता की भलाई की चिंता करनी होगी। जनता की भलाई की सुनिश्चितता में हर व्यक्ति को उसका वाजिब हिस्सा देना शामिल है।

> वे कहते हैं कि अन्याय करना, स्वभाविक रूप से अच्छा है और दुष्टता झेलना बुरा। लेकिन यह भी कि भलाई की तुलना में दुष्टता बड़ी है। और इसीलिए जब लोग अन्याय करने और झेलने, दोनों का अनुभव प्राप्त करते हैं, जब वे किसी एक से बचने और दूसरे को पाने में सफल नहीं होते, तब वे सोचते हैं कि दोनों में से कुछ भी न होने के लिए आपस में समझौता करना बेहतर होता। यहाँ से कानून और आपसी प्रसंविदाएँ बनती हैं। और जो कुछ कानून के द्वारा किया जाता है, उसे ही कानूनसम्मत और न्यायोचित कहा जाता है।
>
> *सुकरात से ग्लाउकॉन; **'द रिपब्लिक'** में*

यह विचार कि न्याय में हर व्यक्ति को उसका वाजिब हिस्सा देना शामिल है, आज भी न्याय की हमारी समझ का महत्त्वपूर्ण अंग बना हुआ है। बहरहाल,

सामाजिक न्याय

प्लेटो के जमाने की तुलना में आज यह समझ ज़रूर बदली है, कि किसी व्यक्ति का प्राप्य क्या है। यानी वह क्या पाने का अधिकारी है। आज न्याय की हमारी समझ इस समझ से गहरे में जुड़ गई है कि मनुष्य होने के नाते हर व्यक्ति का प्राप्य क्या है। जर्मन दार्शनिक इमैनुएल कांट के अनुसार हर मनुष्य की गरिमा होती है। अगर सभी व्यक्तियों की गरिमा स्वीकृत है, तो उनमें से हर एक का प्राप्य यह होगा कि उन्हें अपनी प्रतिभा के विकास और लक्ष्य की पूर्ति के लिए अवसर प्राप्त हो। न्याय के लिए ज़रूरी है कि हम तमाम व्यक्तियों को समुचित और बराबर की अहमियत दें।

समान लोगों के प्रति समान बरताव

हालाँकि आधुनिक समाज में तमाम लोगों को समान महत्त्व देने के बारे में आम सहमति है, लेकिन यह निर्णय करना आसान नहीं कि हर व्यक्ति को उसका प्राप्य कैसे दिया जाए। इस संबंध में कई सिद्धांत पेश किये गए हैं। उनमें से एक है समकक्षों के साथ समान बरताव का सिद्धांत। माना जाता है कि मनुष्य होने के नाते सभी व्यक्तियों में कुछ समान चारित्रिक विशेषताएँ होती हैं। इसीलिए वे समान अधिकार और समान बरताव के अधिकारी हैं। आज अधिकांश उदारवादी जनतंत्रों में कुछ महत्त्वपूर्ण अधिकार दिए गए हैं। इनमें जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकार जैसे नागरिक अधिकार शामिल हैं। इसमें समाज के अन्य सदस्यों के साथ समान अवसरों के उपभोग करने का सामाजिक अधिकार और मताधिकार जैसे राजनीतिक अधिकार भी शामिल हैं। ये अधिकार व्यक्तियों को राज प्रक्रियाओं में भागीदार बनाते हैं।

समान अधिकारों के अलावा समकक्षों के साथ समान बरताव के सिद्धांत के लिए ज़रूरी है, कि लोगों के साथ वर्ग, जाति, नस्ल या लिंग के आधार पर भेदभाव न किया जाए। उन्हें उनके काम और कार्यकलापों के आधार पर जाँचा जाना चाहिए, इस आधार पर नहीं कि वे किस समुदाय के सदस्य हैं। इसीलिए, अगर भिन्न जातियों के दो व्यक्ति एक ही काम करते हैं – चाहे वह पत्थर तोड़ने का काम हो या पिज्जा बाँटने का – उन्हें समान पारिश्रमिक मिलना चाहिए। यदि किसी काम के लिए एक व्यक्ति को सौ रुपये और दूसरे व्यक्ति को पिचहत्तर रुपये सिर्फ इसलिए मिलते हैं, क्योंकि वे भिन्न जातियों के हैं, तो यह अनुचित और अन्यायपूर्ण होगा। इसी तरह, यदि स्कूल में पुरुष शिक्षक को महिला शिक्षक से ज़्यादा वेतन मिलता है, तो यह फर्क भी नाज़ायज़ और गलत होगा।

समानुपातिक न्याय

बहरहाल, समान बरताव न्याय का एकमात्र सिद्धांत नहीं है। ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जिसमें हम महसूस करें कि हर एक के साथ समान बरताव अन्याय होगा। मसलन, अगर आपके स्कूल में यह फ़ैसला किया जाय, कि परीक्षा में शामिल होने वाले तमाम लोगों को बराबर अंक दिए जाएँगे, क्योंकि सब एक ही स्कूल के विद्यार्थी हैं और सबने एक ही परीक्षा दी है, तो आपको कैसा लगेगा? यहाँ आप ज़्यादा यह उचित समझेंगे कि छात्रों को उनकी

उत्तर–पुस्तिकाओं की गुणवत्ता और संभव हो तो इसके लिए उनके द्वारा किए गए प्रयास के अनुसार अंक दिए जाएँ। दूसरे शब्दों में, सबके लिए समान अधिकार की दौड़ में एक ही शुरुआती रेखा निर्धारित करने के बावजूद, ऐसे मामलों में न्याय का मतलब होगा, लोगों को उनके प्रयास के पैमाने और अर्हता के अनुपात में पुरस्कृत करना। अधिकांश लोग सहमत होंगे, कि यूँ तो लोगों को समान काम का समान दाम मिलना चाहिए, लेकिन किसी काम के लिए वांछित मेहनत, कौशल, संभावित खतरे आदि कारकों को ध्यान में रखते हुए अलग–अलग काम के लिए अलग–अलग पारिश्रमिक का निर्धारण उचित और न्यायसंगत होगा। अगर हम इन मानदंडों का इस्तेमाल करें, तो हम पायेंगे कि हमारे समाज में कुछ कामगार तबकों को ऐसे कारकों के मद्देनजर निर्धारित पारिश्रमिक नहीं मिलता। उदाहरण के लिए खनिकों, कुशल कारीगरों अथवा पुलिस कर्मियों जैसे कभी–कभी खतरनाक, लेकिन सामाजिक रूप से उपयोगी पेशों में लगे लोगों को सदैव वह पारिश्रमिक नहीं मिलता, जो समाज में कुछ अन्य लोगों को होने वाली कमाई की तुलना में न्यायोचित हो। समाज में न्याय के लिए समान बरताव के सिद्धांत का समानुपातिकता के सिद्धांत के साथ संतुलन बिठाने की ज़रूरत है।

विशेष ज़रूरतों का विशेष ख्याल

न्याय के जिस तीसरे सिद्धांत को हम समाज के लिए मान्य करते हैं, वह पारिश्रमिक या कर्त्तव्यों का वितरण करते समय लोगों की विशेष ज़रूरतों का ख्याल रखने का सिद्धांत है। इसे सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने का तरीका माना जा सकता है। समाज के सदस्यों के रूप में लोगों की बुनियादी हैसियत और अधिकारों के लिहाज से न्याय के लिए यह ज़रूरी हो सकता है, कि लोगों के साथ समान बरताव किया जाय। लेकिन, लोगों के बीच भेदभाव न करना और उनकी मेहनत के अनुपात में उन्हें पारिश्रमिक देना भी यह सुनिश्चित करने के लिए शायद पर्याप्त न हो, कि समाज में अपने जीवन के अन्य संदर्भों में भी लोग समानता का उपभोग करें या कि समाज समग्र रूप से न्यायपूर्ण हो जाए। लोगों की विशेष ज़रूरतों को ध्यान में रखने का सिद्धांत समान बरताव के सिद्धांत को अनिवार्यतया खंडित नहीं, बल्कि उसका विस्तार ही करता है क्योंकि समकक्षों के साथ समान बरताव के सिद्धांत में यह अंतर्निहित है, कि जो लोग कुछ महत्त्वपूर्ण संदर्भों में समान नहीं हैं, उनके साथ भिन्न ढंग से बरताव किया जाय।

विशेष ज़रूरतों या विकलांगता वाले लोगों को कुछ खास मामलों में असमान और विशेष सहायता के योग्य समझा जा सकता है। लेकिन इस पर सहमत होना हमेशा आसान नहीं होता, कि लोगों को विशेष सहायता देने के लिए उनकी किन असमानताओं को मान्यता दी जाय। शारीरिक विकलांगता, उम्र या अच्छी शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं तक पहुँच न होना कुछ ऐसे कारक हैं, जिन्हें अनेक देशों में विशेष बरताव का आधार समझा जाता है। यह माना जाता, है कि जीवनयापन और अवसरों के बहुत ऊँचे स्तर का उपभोग करने वाले और उत्पादक जिंदगी जीने के लिए ज़रूरी न्यूनतम बुनियादी सुविधाओं से भी वंचित लोगों से हर मामले में बिल्कुल एक जैसा बरताव करने पर परिणाम समतावादी और न्यायपूर्ण नहीं बल्कि एक

सामाजिक न्याय

चिंतन-मंथन

नीचे दी गई स्थितियों की जाँच करें और बताएँ कि क्या वे न्यायसंगत हैं। अपने तर्क के साथ यह भी बताएँ कि प्रत्येक स्थिति में न्याय का कौन-सा सिद्धांत काम कर रहा है-

- ☐ एक दृष्टिहीन छात्र सुरेश को गणित का प्रश्न पत्र हल करने के लिए साढ़े तीन घंटे मिलते हैं, जबकि अन्य सभी छात्रों को केवल तीन घंटे।
- ☐ गीता बैसाखी की सहायता से चलती है। अध्यापिका ने गणित का प्रश्नपत्र हल करने के लिए उसे भी साढ़े तीन घंटे का समय देने का निश्चय किया।
- ☐ एक अध्यापक कक्षा के कमजोर छात्रों के मनोबल को उठाने के लिए कुछ अतिरिक्त अंक देते हैं।
- ☐ एक प्रोफ़ेसर अलग-अलग छात्राओं को उनकी क्षमताओं के मूल्यांकन के आधार पर अलग-अलग प्रश्नपत्र बाँटते हैं।
- ☐ संसद में एक प्रस्ताव विचाराधीन है कि, संसद की कुल सीटों में से एक तिहाई महिलाओं के लिए आरक्षित कर दी जाए।

असमान समाज होगा। हमारे देश में आमतौर पर देखा जाता है कि, अच्छी शिक्षा, स्वास्थ्य और ऐसी अन्य सुविधाओं तक पहुँच का अभाव जाति आधारित सामाजिक भेदभाव से जुड़ा है। इसीलिए संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगों के लिए सरकारी नौकरियों में तथा शैक्षणिक संस्थानों में दाखिले के लिए आरक्षण का प्रावधान किया गया है।

न्याय के विभिन्न सिद्धांतों पर हमारी बहस ने यह संकेत दिया है कि सरकारें कभी-कभी न्याय के उपरोक्त तीन सिद्धांतों - समकक्षों के बीच समान बरताव, लोगों को मिलने वाले लाभों को तय करते समय विभिन्न प्रयास तथा कौशलों को मान्यता देना और ज़रूरतमंदों के लिए जीवन के न्यूनतम मानकों और अवसरों का प्रावधान - के बीच सामंजस्य बिठाने में कठिनाई महसूस कर सकती है। समान बरताव के सिद्धांत पर अमल कभी-कभी योग्यता को उचित प्रतिफल देने के खिलाफ खड़ा हो सकता है। योग्यता को पुरस्कृत करने को न्याय का प्रमुख सिद्धांत मानने पर जोर देने का अर्थ यह होगा कि हाशिये पर खड़े तबके कई क्षेत्रों में वंचित रह जायेंगे, क्योंकि अच्छे पोषाहार और अच्छी शिक्षा जैसी सुविधाओं तक उनकी पहुँच नहीं हो पाती है। देश के विभिन्न समूह, भिन्न-भिन्न नीतियों की तरफदारी कर सकते हैं, जो इस पर निर्भर करता है कि वे न्याय के किस सिद्धांत पर बल देते हैं। ऐसी स्थिति में सरकार की

जिम्मेदारी बन जाती है कि वह एक न्यायपरक समाज को बढ़ावा देने के लिए न्याय के विभिन्न सिद्धांतों के बीच सामंजस्य स्थापित करें।

4.2 न्यायपूर्ण बंटवारा

समाज में सामाजिक न्याय पाने के लिए सरकारों को यह सुनिश्चित करना होता है कि कानून और नीतियाँ सभी व्यक्तियों पर निष्पक्ष रूप से लागू हों। लेकिन इतना ही काफी नहीं है और इससे कुछ ज़्यादा करने की आवश्यकता होती है। सामाजिक न्याय का सरोकार वस्तुओं और सेवाओं के न्यायोचित वितरण से भी है, चाहे यह राष्ट्रों के बीच वितरण का मामला हो या किसी समाज के अंदर विभिन्न समूहों और व्यक्तियों के बीच का। यदि समाज में गंभीर सामाजिक या आर्थिक असमानताएँ हैं, तो यह ज़रूरी होगा कि समाज के कुछ प्रमुख संसाधनों का पुनर्वितरण हो, जिससे नागरिकों को जीने के लिए समतल धरातल मिल सके। इसलिए किसी देश के अंदर सामाजिक न्याय के लिए यह ज़रूरी है, कि न केवल लोगों के साथ समाज के कानूनों और नीतियों के संदर्भ में समान बरताव किया जाय, बल्कि जीवन की स्थितियों और अवसरों के मामले में भी वे कुछ बुनियादी समानता का उपभोग करें। यह हर व्यक्ति के लिए ज़रूरी माना गया कि वह अपने उद्देश्यों के लिए प्रयास कर सके और स्वयं को अभिव्यक्त कर सके। उदाहरण के लिए हमारे देश में सामाजिक समानता को बढ़ावा देने के लिए संविधान ने छुआछूत की प्रथा का उन्मूलन किया और यह सुनिश्चित किया कि 'निचली' कही जाने वाली जातियों के लोगों को मंदिरों में प्रवेश, नौकरी और पानी जैसी बुनियादी ज़रूरतों से न रोका जा सके। विभिन्न राज्य सरकारों ने जमीन जैसे महत्त्वपूर्ण संसाधन के अधिक न्यायपूर्ण वितरण के लिए भूमि–सुधार लागू करने जैसे कदम भी उठाए हैं।

समाज में न्याय की स्थापना से जुड़े कुछ सवाल सामने खड़े हैं। क्या संसाधनों का वितरण और शिक्षा तथा नौकरियों तक समान पहुँच सुनिश्चित की जाए और यदि हाँ तो कैसे? ऐसे

मामलों में मत–भिन्नता समाज में उग्र भावावेश पैदा करती हैं और कभी–कभी हिंसा भी भड़का देती हैं। लोग मानने लगते हैं कि उनके और उनके परिवारों का भविष्य दांव पर लग जायेगा। हमें क्रोध और हिंसा के ऐसे भी मामले याद हैं, जो कभी हमारे देश के शैक्षणिक संस्थानों में या सरकारी नौकरियों में सीट आरक्षण के प्रस्तावों से फूटते रहे हैं। बहरहाल, राजनीतिक सिद्धांत के विद्यार्थी होने के नाते न्याय के सिद्धांत की अपनी समझदारी के आलोक में हमें ठंडे दिमाग से इन मुद्दों की जाँच–परख करने में समर्थ होना चाहिए। क्या वंचितों की सहायता की योजनाएँ न्याय सिद्धांत की कसौटी पर खरी मानी जा सकती हैं? अगले खंड में हम सुप्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिक जॉन रॉल्स द्वारा प्रस्तुत न्यायोचित वितरण के सिद्धांत पर चर्चा करेंगे। रॉल्स ने तर्क दिया है कि समाज के न्यूनतम सुविधा प्राप्त सदस्यों को सहायता देने की ज़रूरत स्वीकार करने के लिए बेशक युक्तिसंगत औचित्य हो सकता है।

4.3 रॉल्स का न्याय सिद्धांत

यदि लोगों को कहा जाय कि आप रहने के लिए किस किस्म का समाज चुनना पसंद करेंगे, तो संभवत: वे ऐसा समाज चुनेंगे जिसके नियम और संगठन उन्हें विशेष सुविधासंपन्न स्थान मुहैया कर सकें। हम सब लोगों से अपेक्षा नहीं कर सकते कि वे अपने निजी हितों को दरकिनार कर समाज की भलाई के बारे में सोचें, खासकर तब जब उन्हें यह यकीन हो कि उनका फैसला भविष्य में उनके बच्चों को मिलने वाली जिंदगी और मौकों को प्रभावित करने जा रहा है। वस्तुत: हम माता–पिता से यह आशा करते हैं कि वे अपने बच्चों के लिए सबसे अच्छा क्या है— इसके बारे में सोचें और सहयोग दें। लेकिन ऐसे परिदृश्य किसी समाज के लिए न्याय के सिद्धांत की बुनियाद का निर्माण नहीं कर सकते। तो, हम ऐसे निर्णय पर कैसे पहुँचें जो निष्पक्ष हो और न्यायसंगत भी?

जॉन रॉल्स ने इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया है। वह तर्क करते हैं कि निष्पक्ष और न्यायसंगत नियम तक पहुँचने का एकमात्र रास्ता यही है कि हम खुद को ऐसी परिस्थिति में होने की कल्पना करें जहाँ हमें यह निर्णय लेना है कि समाज को कैसे संगठित किया जाय। जबकि हमें यह ज्ञात नहीं है कि उस समाज में हमारी क्या जगह होगी। अर्थात् हम नहीं जानते कि किस किस्म के परिवार में हम जन्म लेंगे, हम 'उच्च' जाति के परिवार में पैदा होंगे या 'निम्न' जाति में, धनी होंगे या गरीब, सुविधा–संपन्न होंगे या सुविधाहीन। रॉल्स तर्क देते हैं कि अगर हमें यह नहीं मालूम हो, इस मायने में, कि हम कौन होंगे और भविष्य के समाज में हमारे लिए कौन से विकल्प खुले होंगे, तब हम भविष्य के उस समाज के नियमों और संगठन के बारे में जिस निर्णय का समर्थन करेंगे, वह तमाम सदस्यों के लिए अच्छा होगा।

रॉल्स ने इसे 'अज्ञानता के आवरण' में सोचना कहा है। वे आशा करते हैं कि समाज में अपने संभावित स्थान और हैसियत के बारे में पूर्ण अज्ञानता की हालत में हर आदमी, आमतौर पर जैसे सब करते हैं, अपने खुद के हितों को ध्यान में रखकर फ़ैसला करेगा। चूँकि कोई नहीं

जानता कि वह कौन होगा और उसके लिए क्या लाभप्रद होगा, इसलिए हर कोई सबसे बुरी स्थिति के मद्देनज़र समाज की कल्पना करेगा। खुद के लिए सोच-विचार कर सकने वाले व्यक्ति के सामने यह स्पष्ट रहेगा कि जो जन्म से सुविधासंपन्न हैं, वे कुछ विशेष अवसरों का उपभोग करेंगे। लेकिन दुर्भाग्य से यदि उनका जन्म समाज के वंचित तबके में हो जहाँ वैसा कोई अवसर न मिले, तब क्या होगा? इसलिए, अपने स्वार्थ में काम करने वाले हर व्यक्ति के लिए यही उचित होगा कि वह संगठन के ऐसे नियमों के बारे में सोचे जो कमजोर तबके के लिए यथोचित अवसर सुनिश्चित कर सके। इस प्रयास से दिखेगा कि शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास जैसे महत्त्वपूर्ण संसाधन सभी लोगों को प्राप्त हों – चाहे वे उच्च वर्ग के हो या न हों।

बेशक, अपनी पहचान को विस्मृत करना और 'अज्ञानता के आवरण' में खड़ा होने की कल्पना करना किसी के लिए सहज नहीं है। लेकिन तब, अधिकांश लोगों के लिए यह भी उतना ही कठिन है कि वे आत्म-त्यागी बनें और अजनबी लोगों के साथ अपने सौभाग्य की हिस्सेदारी करें। यही कारण है कि हम आदतन आत्म-त्याग को वीरता से जोड़ते हैं। इन मानवीय दुर्बलताओं और सीमाओं के मद्देनजर हमारे लिए ऐसे ढाँचे के बारे में सोचना बेहतर होगा, जिसमें असाधारण कार्रवाइयों की ज़रूरत न रहे। 'अज्ञानता के आवरण' वाली स्थिति की विशेषता यह है कि उसमें लोगों से सामान्य रूप से विवेकशील मनुष्य बने रहने की उम्मीद बंधती है। उनसे अपने लिए सोचने और अपने हित में जो अच्छा हो, उसे चुनने की अपेक्षा रहती है। हालाँकि प्रासंगिक बात यह है कि जब वे 'अज्ञानता के आवरण' में रह कर चुनते हैं तो वे पायेंगे कि सबसे बुरी स्थिति से ही सोचना उनके लिए हितकर होगा।

अज्ञानता का कल्पित आवरण ओढ़ना उचित कानूनों और नीतियों की प्रणाली तक पहुँचने का पहला कदम है। इससे यह प्रकट होगा कि विवेकशील मनुष्य न केवल सबसे बुरे संदर्भ के मद्देनजर चीज़ों को देखेंगे, बल्कि वे यह भी सुनिश्चित करने की कोशिश करेंगे कि उनके द्वारा निर्मित नीतियाँ समग्र समाज के लिए लाभप्रद हों। दोनों चीज़ों को साथ-साथ चलना है। चूँकि कोई नहीं जानता कि वे आगामी समाज में कौन-सी जगह लेंगे, इसलिए हर कोई ऐसे नियम चाहेगा जो, अगर वे सबसे बुरी स्थिति में जीने वालों के बीच पैदा हों, तब भी उनकी रक्षा कर सके। लेकिन उचित तो यही होगा कि वे यह भी सुनिश्चित करने की कोशिश करें, कि उनके द्वारा चुनी गई नीतियाँ बेहतर स्थिति वालों को कमजोर न बना दे, क्योंकि यह संभावना भी हो सकती है कि वे खुद भविष्य के उस समाज में सुविधा संपन्न स्थिति में पैदा हों। इसलिए यह सभी के हित में होगा कि निर्धारित नियमों और नीतियों से संपूर्ण समाज को फायदा होना चाहिए, किसी एक खास हिस्से का नहीं। यहाँ निष्पक्षता विवेकसम्मत कार्रवाई का परिणाम है, न कि परोपकार या उदारता का।

इसलिए रॉल्स तर्क देते हैं कि नैतिकता नहीं बल्कि विवेकशील चिंतन हमें समाज में लाभ और भार के वितरण के मामले में निष्पक्ष होकर विचार करने की ओर प्रेरित करता है। इस उदाहरण में हमारे पास पहले से बना-बनाया कोई लक्ष्य या नैतिकता के प्रतिमान नहीं होते हैं। हमारे लिए सबसे अच्छा क्या है, यह निर्धारित करने के लिए हम स्वतंत्र होते हैं। यही विश्वास रॉल्स के सिद्धांत को निष्पक्ष और न्याय के प्रश्न को हल करने का महत्त्वपूर्ण और सबल रास्ता बना देता है।

4.4 सामाजिक न्याय का अनुसरण

आओ कुछ करके सीखे

विभिन्न सरकारी और संयुक्त राष्ट्र संघ इकाइयों ने भोजन, आय और पानी जैसी सुविधाओं की न्यूनतम आवश्यकता की गणना की है। अपने स्कूल के पुस्तकालय या इंटरनेट से ऐसी गणनाओं की खोज करो।

यदि किसी समाज में बेहिसाब धन-दौलत और इनके स्वामित्व के साथ जुड़ी सत्ता का उपभोग करने वालों तथा बहिष्कृतों और वंचितों के बीच गहरा एवं स्थायी विभाजन मौजूद है, तो हम कहेंगे कि वहाँ सामाजिक न्याय का अभाव है। हम यहाँ सिर्फ समाज में विभिन्न व्यक्तियों के जीवनयापन के सिर्फ विभिन्न स्तरों की चर्चा नहीं कर रहे हैं। न्याय के लिए लोगों के रहन-सहन के तौर-तरीकों में पूर्ण समानता और एकरूपता की आवश्यकता नहीं है। लेकिन उस समाज को अन्यायपूर्ण ही माना जायेगा, जहाँ धनी और गरीब के बीच खाई इतनी गहरी हो, कि वे बिल्कुल भिन्न-भिन्न दुनिया में रहने वाले लगें और जहाँ अपेक्षाकृत वंचितों को अपनी स्थिति सुधारने का कोई मौका न मिले, चाहे वे कितना भी कठिन श्रम क्यों न करें। दूसरे शब्दों में, न्यायपूर्ण समाज को लोगों के लिए न्यूनतम बुनियादी स्थितियाँ ज़रूर मुहैया करानी चाहिए, ताकि वे स्वस्थ और सुरक्षित जीवन जीने में सक्षम हो सकें, समाज में अपनी प्रतिभा का विकास करें तथा इसके साथ समान अवसरों के जरिये अपने चुने हुए लक्ष्य की ओर बढ़ें।

लोगों की जिंदगी के लिए ज़रूरी न्यूनतम बुनियादी स्थितियों का निर्धारण हम कैसे कर सकते हैं? विभिन्न सरकारों और विश्व स्वास्थ्य संगठन जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने लोगों की बुनियादी आवश्यकताओं की गणना के लिए विभिन्न तरीके इजाद किये हैं। लेकिन सामान्यतः इस पर सहमति है कि स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक पोषक तत्त्वों की बुनियादी मात्रा, आवास, शुद्ध पेयजल की आपूर्ति, शिक्षा और न्यूनतम मज़दूरी इन बुनियादी स्थितियों के महत्त्वपूर्ण हिस्से होंगे। लोगों की बुनियादी ज़रूरतों की पूर्ति लोकतांत्रिक सरकार की जिम्मेदारी समझी जाती है। हालाँकि, सभी नागरिकों के लिए इन बुनियादी शर्तों की पूर्ति, खासकर भारत जैसे देश में जहाँ गरीबों की बड़ी तादाद है, सरकार पर भारी बोझ बन सकती है।

अगर हम सब इस बात पर सहमत भी हो जाएँ, कि राज्य को समाज के सबसे वंचित सदस्यों की मदद करनी चाहिए, जिससे वे बाकियों के साथ एक हद तक समानता का आनंद ले सकें, तब भी इस बात पर असहमति हो सकती है कि इस लक्ष्य को पाने का सर्वोत्तम तरीका क्या होगा। आजकल हमारे समाज में और दुनिया के अन्य हिस्सों में भी यह बहस चल रही है कि क्या मुक्त बाज़ार के जरिए खुली प्रतियोगिता को बढ़ावा देना समाज के सुविधाप्राप्त सदस्यों को नुकसान पहुँचाए बगैर सुविधाहीनों की मदद करने का सर्वोत्तम तरीका होगा या कि गरीबों को न्यूनतम बुनियादी सुविधाएँ मुहैया कराने की जिम्मेवारी सरकार को लेनी चाहिए। हमारे देश में इन भिन्न-भिन्न प्रस्तावों का विभिन्न राजनीतिक समूह समर्थन कर रहे हैं, जो ग्रामीण या शहरी गरीब जैसे सीमांत समूहों की आबादी की सहायता के लिए विभिन्न योजनाओं के तुलनात्मक गुण-दोष पर बहस करते हैं। इस खंड में हम संक्षेप में इस विवाद की परख करेंगे।

मुक्त बाज़ार बनाम राज्य का हस्तक्षेप

मुक्त बाज़ार के समर्थकों का मानना है कि जहाँ तक संभव हो, व्यक्तियों को संपत्ति अर्जित करने के लिए तथा मूल्य, मज़दूरी और मुनाफे के मामले में दूसरों के साथ अनुबंध और समझौतों में शामिल होने के लिए स्वतंत्र रहना चाहिए। उन्हें लाभ की

न्यायपूर्ण समाज वह है, जिसमें परस्पर सम्मान की बढ़ती हुई भावना और अपमान की घटती हुई भावना मिलकर एक करुणा से भरे समाज का निर्माण करें।

डॉ. भीम राव अंबेदकर

अधिकतम मात्रा हासिल करने हेतु एक दूसरे के साथ प्रतिद्वंद्विता करने की छूट होनी चाहिए। यह मुक्त बाज़ार का सरल चित्रण है। मुक्त बाज़ार के समर्थक मानते हैं कि अगर बाज़ारों को राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त कर दिया जाय, तो बाज़ारी कारोबार का योग कुल मिलाकर समाज में लाभ और कर्त्तव्यों का न्यायपूर्ण वितरण सुनिश्चित कर देगा। इससे योग्यता और प्रतिभा से लैस लोगों को अधिक प्रतिफल मिलेगा जबकि अक्षम लोगों को कम हासिल होगा। उनकी मान्यता है कि बाज़ारी वितरण का जो भी परिणाम हो, वह न्यायसंगत होगा।

हालाँकि, मुक्त बाज़ार के सभी समर्थक आज पूर्णतया अप्रतिबंधित बाज़ार का समर्थन नहीं करेंगे। कई लोग अब कुछ प्रतिबंध स्वीकार करने को तैयार होंगे। मसलन सभी लोगों के लिए न्यूनतम बुनियादी जीवन-मानक सुनिश्चित करने हेतु राज्य हस्तक्षेप करे, ताकि वे समान शर्तों पर प्रतिस्पर्धा करने में समर्थ हो सकें। लेकिन वे तर्क कर सकते हैं, कि यहाँ भी स्वास्थ्य सेवा, शिक्षा तथा ऐसी अन्य सेवाओं के विकास के लिए बाज़ार को अनुमति देना ही लोगों के लिए इन बुनियादी सेवाओं की आपूर्ति का सबसे कारगर तरीका हो सकता है। दूसरे शब्दों में, ऐसी सेवाएँ मुहैया कराने के लिए निजी एजेंसियों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, जबकि राज्य की नीतियाँ इन सेवाओं को खरीदने के लिए लोगों को सशक्त बनाने की कोशिश करे। राज्य के लिए यह भी ज़रूरी हो सकता है, कि वह उन वृद्धों और रोगियों को विशेष सहायता प्रदान करें, जो प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सकते। लेकिन इसके आगे राज्य की भूमिका नियम-कानून का ढाँचा बरकरार रखने तक ही सीमित रहनी चाहिए, जिससे व्यक्तियों के बीच जबरदस्ती और अन्य बाधाओं से मुक्त प्रतिद्वंद्विता सुनिश्चित हो। उनका मानना है कि मुक्त बाज़ार उचित और न्यायपूर्ण समाज का आधार होता है। कहा जाता है कि बाज़ार किसी व्यक्ति की जाति या धर्म की परवाह नहीं करता। वह यह भी नहीं देखता कि आप मर्द हैं या औरत। वह इन सबसे निरपेक्ष रहता है और उसका सरोकार आपकी प्रतिभा और कौशल से है। अगर आपके पास योग्यता है तो बाकी सब बातें बेमानी हैं।

बाज़ारी वितरण के पक्ष में एक तर्क यह दिया जाता है, कि यह हमें ज़्यादा विकल्प प्रदान करता है। इसमें शक नहीं कि बाज़ार प्रणाली उपभोक्ता के तौर पर हमें ज़्यादा विकल्प देती है। हम जैसा चाहें वैसा चावल पसंद कर सकते हैं और पसंदीदा स्कूल जा सकते हैं, बशर्ते उनकी कीमत चुकाने के लिए हमारे पास साधन हों। लेकिन, बुनियादी वस्तुओं और सेवाओं के मामले में महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि अच्छी गुणवत्ता की वस्तुएँ और सेवाएँ लोगों के खरीदने लायक कीमत पर उपलब्ध हों। यदि निजी एजेंसियाँ इसे अपने लिए लाभदायक नहीं पाती हैं, तो वे उस खास बाज़ार में प्रवेश नहीं करेंगी अथवा सस्ती और घटिया सेवाएँ मुहैया कराएँगी। यही वजह है कि सुदूर ग्रामीण इलाकों में बहुत कम निजी विद्यालय हैं और कुछ खुले भी हैं, तो वे निम्नस्तरीय हैं। स्वास्थ्य सेवा और आवास के मामले में भी सच यही है। इन परिस्थितियों में सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है।

मुक्त बाज़ार और निजी उद्यम के पक्ष में अक्सर सुनने में आने वाला दूसरा तर्क यह है कि वे जो सेवाएँ मुहैया कराते हैं, उनकी गुणवत्ता सरकारी संस्थानों द्वारा प्रदत्त सेवाओं से प्राय: बेहतर होती है। लेकिन इन सेवाओं की कीमत उन्हें गरीब लोगों की पहुँच से बाहर कर दे सकती है। निजी व्यवसाय वहीं जाना चाहता है, जहाँ उसे सबसे ज़्यादा मुनाफा मिले और इसीलिए मुक्त बाज़ार ताकतवर, धनी और प्रभावशाली लोगों के हित में काम करने को प्रवृत्त होता है। इसका परिणाम अपेक्षाकृत कमज़ोर और सुविधाहीन लोगों के लिए अवसरों का विस्तार करने के बजाय अवसरों से वंचित करना हो सकता है।

तर्क तो बहस के दोनों पक्षों के लिए प्रस्तुत किए जा सकते हैं, लेकिन मुक्त बाज़ार आमतौर पर पहले से ही सुविधासंपन्न लोगों के हक में काम करने का रुझान दिखलाते हैं। इसी वजह से अनेक लोग तर्क करते हैं, कि सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए राज्य को यह सुनिश्चित करने की पहल करनी चाहिए, कि समाज के तमाम सदस्यों को बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध हों।

लोकतांत्रिक समाज में वितरण और न्याय के मुद्दों पर असहमतियाँ अपरिहार्य हैं और फ़ायदेमंद भी क्योंकि वे हमें विभिन्न दृष्टिकोणों की जाँच-परख करने और विवेकसम्मत ढंग से अपने विचारों का बचाव करने को बाध्य करती है। वाद-विवाद के जरिए इन असहमतियों के बीच राह निकालने का ही दूसरा नाम राजनीति है। हमारे अपने देश में अनेक किस्म की सामाजिक और आर्थिक विषमताएँ मौजूद हैं और उन्हें कम करने के लिए बहुत कुछ करना बाकी है। न्याय के विभिन्न सिद्धांतों के अध्ययन से हमें इसमें शामिल मुद्दों पर बहस करने तथा न्याय के अनुसरण के सर्वोत्तम रास्ते के बारे में एक सहमति पर पहुँचने में मदद मिलती है।

> ‘न्याय में ऐसा कुछ अंतर्निहित है जिसे करना न सिर्फ सही है और न करना सिर्फ गलत; बल्कि जिस पर बतौर अपने नैतिक अधिकार कोई व्यक्ति विशेष हमसे दावा जता सकता है।’
>
> *जे.एस. मिल*

सामाजिक न्याय

प्रश्नावली

1. हर व्यक्ति को उसका प्राप्य देने का क्या मतलब है? हर किसी को उसका प्राप्य देने का मतलब समय के साथ-साथ कैसे बदला?

2. अध्याय में दिए गए न्याय के तीन सिद्धांतों की संक्षेप में चर्चा करो। प्रत्येक को उदाहरण के साथ समझाइये।

3. क्या विशेष ज़रूरतों का सिद्धांत सभी के साथ समान बरताव के सिद्धांत के विरूद्ध है?

4. निष्पक्ष और न्यायपूर्ण वितरण को युक्तिसंगत आधार पर सही ठहराया जा सकता है। रॉल्स ने इस तर्क को आगे बढ़ाने में 'अज्ञानता के आवरण' के विचार का उपयोग किस प्रकार किया।

5. आम तौर पर एक स्वस्थ और उत्पादक जीवन जीने के लिए व्यक्ति की न्यूनतम बुनियादी ज़रूरतें क्या मानी गई है? इस न्यूनतम को सुनिश्चित करने में सरकार की क्या जिम्मेदारी है?

6. सभी नागरिकों को जीवन की न्यूनतम बुनियादी स्थितियाँ उपलब्ध कराने के लिए राज्य की कार्यवाई को निम्न में से कौन-से तर्क से वाजिब ठहराया जा सकता है?
   (क) गरीब और ज़रूरतमदों को निशुल्क सेवाएँ देना एक धर्म कार्य के रूप में न्यायोचित है।
   (ख) सभी नागरिकों को जीवन का न्यूनतम बुनियादी स्तर उपलब्ध करवाना अवसरों की समानता सुनिश्चित करने का एक तरीका है।
   (ग) कुछ लोग प्राकृतिक रूप से आलसी होते हैं और हमें उनके प्रति दयालु होना चाहिए।
   (छ) सभी के लिए बुनियादी सुविधाएँ और न्यूनतम जीवन स्तर सुनिश्चित करना साझी मानवता और मानव अधिकारों की स्वीकृति है।

प्रश्नावली

प्रारंभिक पृष्ट पर चित्र श्वेता राव

अध्याय 5

अधिकार

परिचय

चित्र द नेशनक आर्काइव्स एंड रिकार्ड्स एडमिनिस्ट्रेशन, यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका से आभार।

अपनी रोजमर्रा की जिंदगी में हम अक्सर अधिकारों की चर्चा करते हैं। लोकतांत्रिक देश के सदस्य होने के नाते हम वोट देने, राजनीतिक पार्टियाँ बनाने और चुनाव लड़ने जैसे अधिकारों की बात करते हैं। लोग अधिकारों के लिए नई-नई माँग भी कर रहे हैं। आम तौर पर स्वीकृत नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के अलावा सूचना के अधिकार, स्वच्छ वायु के अधिकार तथा सुरक्षित पेयजल के अधिकार का भी दावा जताया जा रहा है। जहाँ हम प्राय: अपने राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन से जुड़े अधिकारों का दावा करते हैं, वहीं हम सामाजिक और वैयक्तिक संबंधों में भी अधिकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। मसलन, हम अपना कॅरियर चुनने और देश में बेरोकटोक घूमने के अधिकारों की बात करते हैं। और तो और, न केवल वयस्क मनुष्यों के लिए बल्कि बच्चों, गर्भस्थ भ्रूणों और पशुओं के लिए भी अधिकारों का दावा किया जाता है। इस प्रकार विभिन्न लोग विविध तरीकों से अधिकार की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। इस अध्याय में हम इस अवधारणा से जुड़े सवालों की पड़ताल करेंगे।

- ☐ जब हम अधिकारों की बात करते हैं तो हमारा आशय क्या है?
- ☐ अधिकारों के हमारे दावों की बुनियाद क्या है?
- ☐ अधिकारों से किन उद्देश्यों की पूर्ति होती है और वे इतने महत्त्वपूर्ण क्यों हैं?

अधिकार

5.1 अधिकार क्या हैं?

अधिकार मूल रूप से हकदारी अथवा ऐसा दावा है जिसका औचित्य सिद्ध हो। यह बताता है कि नागरिक, व्यक्ति और मनुष्य होने के नाते हम किसके हकदार हैं। यह ऐसी चीज़ है जिसको हम अपना प्राप्य समझते हैं; ऐसी चीज़ जिसे शेष समाज ऐसे वैध दावे के रूप में स्वीकार करे जिसका अनुमोदन अनिवार्य हो। इसका यह मतलब नहीं है कि हर वह चीज़, जिसे मैं ज़रूरी और वांछनीय समझूँ, अधिकार है। मेरी इच्छा हो सकती है कि स्कूल के लिए निर्धारित पोशाक की बजाय अपनी पसंद के कपड़े पहनूँ। मैं देर रात तक घर से बाहर रहना चाह सकता हूँ, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि मुझे स्कूल के लिए अपनी इच्छानुसार जो चाहूँ वह पहनने अथवा जब चाहूँ तब घर लौटने का अधिकार है। मैं जो चाहता हूँ और जिसके लिए मैं स्वयं को हकदार समझता हूँ तथा जिनका बतौर अधिकार उल्लेख किया जा सकता है, के बीच फर्क होता है।

अधिकार उन बातों का द्योतक है, जिन्हें मैं और अन्य लोग सम्मान और गरिमा का जीवन बसर करने के लिए महत्त्वपूर्ण और आवश्यक समझते हैं। उदाहरण के लिए, आजीविका का अधिकार सम्मानजनक जीवन जीने के लिए ज़रूरी है। लाभकर रोज़गार में नियोजित होना व्यक्ति को आर्थिक स्वतंत्रता देता है, इसीलिए यह उसकी गरिमा के लिए प्रमुख है। अपनी बुनियादी ज़रूरतों की पूर्ति हमें अपनी प्रतिभा और रुचियों की ओर प्रवृत्त होने की स्वतंत्रता प्रदान करती है यहाँ हम स्वतंत्र अभिव्यक्ति के अधिकार का उदाहरण ले सकते हैं। यह अधिकार हमें सृजनात्मक और मौलिक होने का मौका देता है – चाहे यह लेखन के क्षेत्र में हो अथवा नृत्य, संगीत या किसी अन्य रचनात्मक क्रियाकलाप में। लेकिन अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता लोकतांत्रिक सरकार के लिए भी महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि यह विश्वासों और मतों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति की अनुमति देती है। आजीविका का अधिकार या अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे अधिकार समाज में रहने वाले तमाम लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इसी वजह से उनकी प्रकृति विश्वजनीन कही जाती हैं।

अधिकारों की दावेदारी का दूसरा आधार यह है कि वे हमारी बेहतरी के लिए आवश्यक हैं। ये लोगों को उनकी दक्षता और प्रतिभा विकसित करने में सहयोग देते हैं। उदाहरणार्थ, शिक्षा का अधिकार हमारी तर्क-शक्ति विकसित करने में मदद करता है, हमें उपयोगी कौशल प्रदान करता है और जीवन में सूझ-बूझ के साथ चयन करने में सक्षम बनाता है। व्यक्ति के कल्याण के लिए इस हद तक शिक्षा को अनिवार्य समझा जाता है कि उसे सार्वभौम अधिकार माना गया है। बहरहाल, अगर कोई कार्यकलाप हमारे स्वास्थ्य और कल्याण के लिए नुकसानदेह है, तो उसे अधिकार नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए, डॉक्टरी शोध ने यह प्रमाणित किया है कि नशीली दवाएँ स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं और चूँकि ये अन्यों के साथ हमारे रिश्तों पर दुष्प्रभाव डालती हैं, इसलिए हम यह दावा नहीं कर सकते कि हमें नशीले पदार्थों के सेवन करने या सुई लगाने या धूम्रपान का अधिकार होना चाहिए। धूम्रपान के

मामले में तो यह उन लोगों के स्वास्थ्य के लिए भी नुकसानदेह है, जो धूम्रपान करने वालों के आस-पास होते हैं। नशीले पदार्थ न केवल हमारे स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाते हैं, बल्कि वे कभी-कभी हमारे आचरण के रंग-ढंग को बदल देते हैं और हमें अन्य लोगों के लिए खतरा करार देते हैं। अधिकारों की हमारी परिभाषा के अंतर्गत धूम्रपान अथवा प्रतिबंधित दवाओं के सेवन को अधिकार के रूप में मान्य नहीं किया जा सकता।

आओ कुछ करके सीखे

पिछले कुछ महीनों के अखबारों को बाँचिए और उन जन आंदोलनों और संगठनों की सूची बनाइये जिन्होंने नए किस्म के अधिकारों की माँग की है।

5.2 अधिकार कहाँ से आते हैं?

सतरहवीं और अठारहवीं शताब्दी में राजनीतिक सिद्धांतकार तर्क देते थे कि हमारे लिए अधिकार प्रकृति या ईश्वर प्रदत्त हैं। हमें जन्म से वे अधिकार प्राप्त हैं। परिणामतः कोई व्यक्ति या शासक उन्हें हमसे छीन नहीं सकता। उन्होंने मनुष्य के तीन प्राकृतिक अधिकार चिन्हित किये थे- जीवन का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार और संपत्ति का अधिकार। अन्य तमाम अधिकार इन बुनियादी अधिकारों से ही निकले हैं। हम इन अधिकारों का दावा करें या न करें, व्यक्ति होने के नाते हमें ये प्राप्त हैं। यह विचार कि हमें जन्म से ही कुछ खास अधिकार प्राप्त हैं, काफी शक्तिशाली अवधारणा है। क्योंकि इसका अर्थ यह है 'जो ईश्वर प्रदत्त है' और उन्हें कोई मानव शासक या राज्य हमसे छीन नहीं सकता। प्राकृतिक अधिकारों के विचार का इस्तेमाल राज्यों अथवा सरकारों के द्वारा स्वेच्छाचारी शक्ति के प्रयोग का विरोध करने और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए किया जाता था।

हाल के वर्षों में प्राकृतिक अधिकार शब्द से ज़्यादा मानवाधिकार शब्द का प्रयोग हो रहा है। ऐसा इसलिए क्योंकि उनके प्राकृतिक होने का विचार आज अस्वीकार्य लगता है। ऐसा मानना भी मुश्किल होता जा रहा है कि कुछ नियम-आदर्श ऐसे हैं जिन्हें प्रकृति या ईश्वर ने रचा है। अधिकारों को ऐसी गारंटियों के रूप में देखने की प्रवृत्ति बढ़ी है जिन्हें मनुष्य ने एक अच्छा जीवन जीने के लिए स्वयं ही खोजा या पाया है।

मानव अधिकारों के पीछे मूल मान्यता यह है कि सभी लोग, मनुष्य होने मात्र से कुछ चीज़ों को पाने के अधिकारी हैं। एक मानव के रूप में हर आदमी विशिष्ट और समान महत्त्व का है। इसका अर्थ यह है कि एक आंतरिक दृष्टि से सभी मनुष्य समान हैं और कोई भी व्यक्ति दूसरों का नौकर होने के लिए पैदा नहीं हुआ है। सभी मनुष्य एक आन्तरिक मूल्य से संपन्न होते हैं और उन्हें स्वतंत्र रहने तथा अपनी पूरी संभावना को साकार करने का समान अवसर मिलना चाहिए। इस विचार का इस्तेमाल नस्ल, जाति, धर्म और लिंग पर आधारित मौजूदा असमानताओं को चुनौती देने के लिए किया जाता रहा है।

अधिकारों की इसी समझदारी पर मानव अधिकार संबंधी संयुक्त राष्ट्र घोषणा-पत्र बना है। यह उन दावों को मान्यता देने का प्रयास करता है, जिन्हें विश्व समुदाय सामूहिक रूप

अधिकार

मानवीय गरिमा के बारे में कांट

''...हर चीज़ की या तो कीमत होती है या गरिमा। जिसकी कीमत होती है, उसकी जगह उसके समतुल्य कोई दूसरी चीज़ भी रखी जा सकती है। इसके विपरीत, जो तमाम कीमतों से ऊपर हो और जिसका कोई समतुल्य न हो, उसकी गरिमा होती है।''

अन्य प्राणियों से अलग मनुष्य की एक गरिमा होती है। इस कारण से वे अपने आप में बहुमूल्य हैं। 18वीं सदी के जर्मन दार्शनिक इमैनुएल कांट के लिए इस साधारण विचार का गहरा अर्थ था। उनके लिए इसका मतलब था कि हर मनुष्य की गरिमा है और मनुष्य होने के नाते उसके साथ इसी के अनुकूल बर्ताव किया जाना चाहिए। मनुष्य अशिक्षित हो सकता है, गरीब या शक्तिहीन हो सकता है। वह बेईमान अथवा अनैतिक भी हो सकता है। फिर भी वह एक मनुष्य है और न्यूनतम ही सही, प्रतिष्ठा पाने का हकदार है। कांट के लिए, लोगों के साथ गरिमामय बर्ताव करने का अर्थ था उनके साथ नैतिकता से पेश आना। यह विचार उन लोगों के लिए एक संबल था जो लोग सामाजिक ऊँच-नीच के खिलाफ और मानवाधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे थे।

कांट के विचार ने अधिकार की एक नैतिक अवधारणा प्रस्तुत की। पहला, हमें दूसरों के साथ वैसा ही आचरण करना चाहिए, जैसा हम अपने लिए दूसरों से अपेक्षा करते हैं। दूसरे, हमें यह निश्चित करना चाहिए कि हम दूसरों को अपनी स्वार्थसिद्धि का साधन नहीं बनायेंगे। हमें लोगों के साथ उस तरह का बर्ताव नहीं करना चाहिए जैसा कि हम कलम, कार या घोड़ा के साथ करते हैं। हमें लोगों का सम्मान करना चाहिए, इसलिए नहीं कि वे हमारे लिए उपयोगी हैं, बल्कि इसलिए कि वे, आखिरकार, मनुष्य हैं।

से गरिमा और आत्मसम्मान से परिपूर्ण जिंदगी जीने के लिए आवश्यक मानता है।

पूरी दुनिया के उत्पीड़ित जन सार्वभौम मानवाधिकार की अवधारणा का इस्तेमाल उन कानूनों को चुनौती देने के लिए कर रहे हैं, जो उन्हें पृथक करने वाले और समान अवसरों तथा अधिकारों से वंचित करते हैं। वे मानवता की अवधारणा की पुनर्व्याख्या के लिए संघर्ष कर रहे हैं, ताकि वे खुद को इसमें शामिल कर सकें।

कुछ संघर्ष सफल भी हुए हैं, जैसे दास प्रथा का उन्मूलन हुआ; लेकिन कुछ अन्य संघर्षों में अभी तक सीमित सफलता ही मिल पाई है। लेकिन आज भी अनेक ऐसे समुदाय हैं, जो मानवता को इस प्रकार परिभाषित करने के संघर्ष में लगे हैं, जो उनको भी शामिल करे।

विविध समाजों में ज्यों-ज्यों नए खतरे और चुनौतियाँ उभरती आयी हैं, त्यों-त्यों उन मानवाधिकारों की सूची लगातार बढ़ती गई है, जिनका लोगों ने दावा किया है। मसलन, हम आज प्राकृतिक पर्यावरण की सुरक्षा की ज़रूरत के प्रति काफी सचेत हैं और इसने स्वच्छ हवा, शुद्ध जल, टिकाऊ विकास जैसे अधिकारों की माँगें पैदा की हैं। युद्ध या प्राकृतिक संकट के दौरान अनेक लोग, खास कर महिलाएँ, बच्चे या बीमार जिन बदलावों को झेलते हैं, उनके बारे में नई जागरूकता ने आजीविका के अधिकार, बच्चों के अधिकार और ऐसे अन्य अधिकारों की माँग भी पैदा की है। ऐसे दावे मानव गरिमा के अतिक्रमण के प्रति नैतिक आक्रोश का भाव व्यक्त करते हैं और वे समस्त मानव समुदाय हेतु अधिकारों के प्रयोग और विस्तार के लिए लोगों से एकजुट होने का

आह्वान करते हैं। हमें इन दावों के विस्तार तथा प्रभाव को कम करके नहीं आँकना चाहिए। उन्हें अक्सर व्यापक समर्थन हासिल होता है। आपने शायद पॉप स्टार बॉब गेल्डॉफ की ओर से अफ्रीका में गरीबी खत्म करने के लिए पश्चिमी मुल्कों की सरकारों से की गई हाल की अपील के बारे में सुना होगा और टीवी में देखा भी होगा कि उसे आम जनता का कितना प्रबल समर्थन हासिल हुआ।

5.3 कानूनी अधिकार और राज्यसत्ता

मानवाधिकारों के दावों की नैतिक अपील चाहे जितनी हो, उनकी सफलता की डिग्री कुछ कारकों पर निर्भर है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है–सरकारों और कानून का समर्थन। यही कारण है कि अधिकारों की कानूनी मान्यता को इतनी अहमियत दी जाती है।

अनेक देशों में अधिकारों के विधेयक वहाँ के संविधान में प्रतिष्ठित रहते हैं। संविधान देशों के सर्वोच्च कानून के द्योतक होते हैं, इसलिए कुछ खास अधिकारों की संवैधानिक मान्यता उन्हें बुनियादी महत्त्व प्रदान करती है। अपने देश में इन्हें हम मौलिक अधिकार कहते हैं। अन्य कानूनों और नीतियों से इन संवैधानिक अधिकारों के सम्मान की अपेक्षा की जाती है। संविधान में उन अधिकारों का उल्लेख रहता है, जो बुनियादी महत्त्व के माने जाते हैं। कुछ अन्य ऐसे अधिकारों का भी उल्लेख संभव है, जो किसी देश के विशिष्ट इतिहास और रीति–रिवाज़ों के चलते महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में अस्पृश्यता पर प्रतिबंध का प्रावधान है, जो देश की परंपरागत सामाजिक कुप्रथा का ध्यान दिलाता है।

हमारे दावों को मिलने वाली कानूनी और संवैधानिक मान्यता इतनी महत्त्वपूर्ण होती है कि बहुत से सिद्धांतकार अधिकार को ऐसे दावों के रूप में परिभाषित करते हैं, जिन्हें राज्य ने मान्य किया हो। कानूनी मान्यता से यकीनन हमारे अधिकारों को समाज में एक खास दर्जा मिलता है, लेकिन कानूनी मान्यता के आधार पर किसी अधिकार का दावा नहीं किया जा सकता। जैसी कि पहले चर्चा की जा चुकी है। अधिकारों का धीरे–धीरे विस्तार और

पुनर्व्याख्या हो रही है। ऐसा अभी तक अलग रहे समूहों को शामिल करने और गरिमापूर्ण एवं सम्मानजनक जीवन की हमारी नई समझदारी के उद्देश्य से हो रहा है।

अधिकतर मामलों में अधिकार राज्य से किए जाने वाले दावे हैं। अधिकारों के माध्यम से हम राज्यसत्ता से कुछ माँग करते हैं। जब हम शिक्षा के अधिकार पर जोर देते हैं, तो हम राज्य से बुनियादी शिक्षा के लिए प्रावधान करने की माँग करते होते हैं। समाज भी शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार कर सकता है और अपनी तरफ से इसमें सहयोग कर सकता है। विभिन्न समूह विद्यालय खोल सकते हैं और छात्रवृत्तियों के लिए निधि जमा कर सकते हैं ताकि तमाम वर्गों के बच्चे शिक्षा का लाभ प्राप्त कर सकें। लेकिन मुख्यत: यह जिम्मेवारी राज्य की बनती है। राज्य को ही आवश्यक उपायों का प्रवर्तन करना होता है, जिससे हमारे शिक्षा के अधिकार की पूर्ति सुनिश्चित हो।

इस प्रकार, अधिकार राज्य को कुछ खास तरीकों से कार्य करने के लिए वैधानिक दायित्व सौंपते हैं। प्रत्येक अधिकार निर्देशित करता है कि राज्य के लिए क्या करने योग्य है और क्या नहीं। उदाहरण के लिए, मेरा जीवन जीने का अधिकार राज्य को ऐसे कानून बनाने के लिए बाध्य करता है, जो दूसरों के द्वारा क्षति पहुँचाने से मुझे बचा सके। यह अधिकार राज्य से माँग करता है कि वह मुझे चोट या नुकसान पहुँचाने वालों को दंडित करे। यदि कोई समाज महसूस करता है कि जीने के अधिकार का मतलब अच्छे स्तर के जीवन का अधिकार है, तो वह राजसत्ता से ऐसी नीतियों के अनुपालन की अपेक्षा करता है, जो स्वस्थ जीवन के लिए स्वच्छ पर्यावरण और अन्य आवश्यक निर्धारकों का प्रावधान करें। दूसरे शब्दों में, मेरा अधिकार यहाँ राजसत्ता को खास तरीके से काम करने के कुछ वैधानिक दायित्व सौंपता है।

अधिकार सिर्फ यह ही नहीं बताते कि राज्य को क्या करना है, वे यह भी बताते हैं कि राज्य को क्या कुछ नहीं करना है। मसलन, किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार कहता है कि राजसत्ता महज अपनी मर्जी से उसे गिरफ्तार नहीं कर सकती। अगर वह किसी को सलाखों के पीछे करना चाहती है, तो उसे इस कार्रवाई को जायज ठहराना पड़ेगा, उसे किसी न्यायालय के समक्ष इस व्यक्ति की स्वतंत्रता में कटौती करने का कारण बताना होगा। इसीलिए, मुझे पकड़ने के पहले गिरफ्तारी का वारंट दिखाना पुलिस के लिए आवश्यक होता है। इस प्रकार मेरे अधिकार राजसत्ता पर कुछ अंकुश भी लगाते हैं।

दूसरे तरीके से कहा जाए, तो हमारे अधिकार यह सुनिश्चित करते हैं कि राज्य की सत्ता वैयक्तिक जीवन और स्वतंत्रता की मर्यादा का उल्लंघन किये बगैर काम करे। राज्य संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न सत्ता हो सकता है, उसके द्वारा निर्मित कानून बलपूर्वक लागू किए जा सकते हैं लेकिन संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न राज्य का अस्तित्व अपने लिए नहीं, बल्कि व्यक्ति के हित के लिए होता है। इसमें जनता का ही अधिक महत्त्व है और सत्तारूढ़ सरकार को उसके ही कल्याण के लिए काम करना होता है। शासक अपनी कार्यवाहियों के लिए

जवाबदेह है और उसे हरगिज नहीं भूलना चाहिए कि कानून लोगों की भलाई सुनिश्चित करने के लिए ही होते हैं।

5.4 अधिकारों के प्रकार

अधिकतर लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ राजनीतिक अधिकारों का घोषणापत्र बनाने से अपनी शुरुआत करती हैं। राजनीतिक अधिकार नागरिकों को कानून के समक्ष बराबरी तथा राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी का हक देते हैं। इनमें वोट देने और प्रतिनिधि चुनने, चुनाव लड़ने, राजनीतिक पार्टियाँ बनाने या उनमें शामिल होने जैसे अधिकार शामिल हैं। राजनीतिक अधिकार नागरिक स्वतंत्रताओं से जुड़े होते हैं। नागरिक स्वतंत्रता का अर्थ है–स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायिक जाँच का अधिकार, विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति का अधिकार, प्रतिवाद करने तथा असहमति प्रकट करने का अधिकार। नागरिक स्वतंत्रता और राजनीतिक अधिकार मिलकर किसी सरकार की लोकतांत्रिक प्रणाली की बुनियाद का निर्माण करते हैं। लेकिन जैसा कि पहले बताया गया है, अधिकारों का उद्देश्य लोगों के कल्याण की हिफाजत करना होता है। सरकार को जनता के प्रति जवाबदेह बनाकर, शासकों की अपेक्षा लोगों के सरोकार को अधिक महत्त्व देकर और तमाम लोगों के लिए सरकार के निर्णयों को प्रभावित करने का मौका सुनिश्चित कर राजनीतिक अधिकार इसमें सहयोग करते हैं।

आओ कुछ करके सीखे

पिछले कुछ दिनो के अखबारों को देखिए और अधिकारों के उल्लंघन के मामलों की तलाश कीजिए। सरकार और समाज के लोगों को अधिकारों के उल्लंघन को रोकने के लिए क्या करना चाहिए?

राजनीतिक भागीदारी का अपना अधिकार पूरी तरह से हम तभी अमल में ला सकते हैं जब भोजन, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य जैसी हमारी बुनियादी ज़रूरतें पूरी हों। फुटपाथ पर रहने और इन बुनियादी ज़रूरतों की पूर्ति के लिए संघर्ष करने वालों के लिए अपने-आप में राजनीतिक अधिकार का कोई मूल्य नहीं है। उन्हें पहले तो अपनी बुनियादी ज़रूरतों की पूर्ति हेतु पर्याप्त मज़दूरी और मेहनत की उचित परिस्थितियों जैसी कतिपय सुविधाएँ चाहिएँ। इसीलिए लोकतांत्रिक समाज इन दायित्वों को स्वीकार कर रहे हैं और आर्थिक अधिकार मुहैया कर रहे हैं। कुछ देशों में नागरिक, खासकर निम्न आय वाले नागरिक, आवास और चिकित्सा जैसी सुविधाएँ राज्य से प्राप्त करते हैं। कुछ अन्य देशों में बेरोजगार व्यक्ति कुछ न्यूनतम भत्ता पाते हैं, ताकि वे अपनी बुनियादी ज़रूरतें पूरी कर सकें। भारत में, सरकार ने ग्रामीण और शहरी गरीबों की मदद के लिए अन्य कार्यवाहियों के साथ हाल में ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना की शुरुआत की है।

“ ” वाद-विवाद-संवाद

संस्कृति के अधिकार का मतलब है कि किसी को भी ऐसी फिल्म बनाने की अनुमति नहीं होनी चाहिए जो किसी को धार्मिक या सांस्कृतिक आस्थाओं को चोट पहुँचाए।

आजकल, अधिकाधिक लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों के साथ नागरिकों के सांस्कृतिक दावों को भी मान्यता दे रही हैं। अपनी मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा पाने का अधिकार, अपनी भाषा और संस्कृति के शिक्षण के लिए संस्थाएँ बनाने के

अधिकार

चिंतन-मंथन

समूह या समुदाय विशेष को दिए गए निम्न अधिकारों में से कौन-से न्यायोचित हैं? चर्चा कीजिए-

- एक शहर में जैन समुदाय के लोगों ने अपना विद्यालय खोला और उसमें केवल अपने समुदाय के छात्र-छात्राओं को ही प्रवेश दिया।
- हिमाचल प्रदेश में वहाँ के स्थायी निवासियों के अलावा बाकी लोग जमीन या अन्य अचल संपत्ति नहीं खरीद सकते।
- एक सह शिक्षा विद्यालय के प्रधानाध्यापक ने एक सर्कुलर जारी किया कि कोई भी छात्रा किसी भी प्रकार का पश्चिमी परिधान नहीं पहनेगी।
- हरियाणा की एक पंचायत ने निर्णय दिया कि अलग-अलग जातियों के जिस लड़के और लड़की ने शादी कर ली थी, वे अब गाँव में नहीं रहेंगे।

अधिकार को बेहतर जिंदगी जीने के लिए आवश्यक माना जा रहा है। इस प्रकार लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में अधिकारों की सूची लगातार बढ़ती गई है। कुछ अधिकार जैसे- जीने का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, समान व्यवहार का अधिकार और राजनीतिक भागीदारी का अधिकार, ऐसे बुनियादी अधिकार के रूप में मान्य हैं, जिन्हें प्राथमिकता देनी ही है। शालीन जीवनयापन के लिए आवश्यक अन्य स्थितियाँ भी न्यायोचित दावों अथवा अधिकारों के रूप में मान्य की जा रही हैं।

5.5 अधिकार और जिम्मेदारियाँ

अधिकार न केवल राज्य पर जिम्मेदारी डालते हैं कि वह खास तरीके से काम करे बल्कि हम सब पर भी जिम्मेदारी आयद करते हैं। उदाहरण के लिए टिकाऊ विकास का मामला लें। हमारे अधिकार हमें याद दिलाते हैं कि इसके लिए न केवल राज्य को कुछ कदम उठाने हैं, बल्कि हमें भी इस दिशा में प्रयास करने हैं। अधिकार हमें बाध्य करते हैं कि हम अपनी निजी ज़रूरतों और हितों की ही न सोचें, कुछ ऐसी चीज़ों की भी रक्षा करें, जो हम सब के लिए हितकर हैं। ओजोन परत की हिफाजत करना, वायु और जल प्रदूषण कम से कम करना, नए वृक्ष लगाकर और जंगलों की कटाई रोक कर हरियाली बरकरार रखना, पारिस्थितिकीय संतुलन कायम रखना आदि ऐसी चीज़े हैं, जो हम सब के लिए अनिवार्य हैं। ये आम भलाई की बातें हैं, जिनका पालन हमें अपनी और भावी पीढ़ियों की हिफाजत

अधिकार

के लिए भी अवश्य करना चाहिए। आने वाली पीढ़ियों को भी सुरक्षित और स्वच्छ दुनिया पाने का हक है, इसके बिना वे बेहतर जीवन नहीं जी सकतीं।

दूसरे, अधिकार यह अपेक्षा करते हैं कि मैं अन्य लोगों के अधिकारों का सम्मान करूँ। अगर मैं कहता हूँ कि मुझे अपने विचारों को अभिव्यक्त करने का अधिकार मिलना ही चाहिए तो मुझे दूसरों को भी यही अधिकार देना होगा। अगर मैं अपनी पसंद के कपड़े पहनने में, संगीत सुनने में दूसरों का हस्तक्षेप नहीं चाहता, तो मुझे भी दूसरों की पसंदगी में दखलदांजी से बचना होगा। मुझे उन्हें भी उनकी पसंद के कपड़े या संगीत चुनने की स्वतंत्रता देनी होगी। मैं स्वतंत्र भाषण देने के अधिकार का इस्तेमाल अपने पड़ोसी की हत्या के लिए भीड़ को उकसाने के लिए नहीं कर सकता। अपने अधिकारों का प्रयोग करने के लिए मैं दूसरों को उनके अधिकारों से वंचित नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, मेरे अधिकार सब के लिए बराबर और एक ही अधिकार के सिद्धांत से सीमाबद्ध हैं।

तीसरे, टकराव की स्थिति में हमें अपने अधिकारों को संतुलित करना होता है। मसलन, अभिव्यक्ति की आजादी का मेरा अधिकार मुझे तस्वीर लेने की अनुमति देता है, लेकिन अगर मैं अपने घर में नहाते हुए किसी व्यक्ति की उसकी इजाजत के बिना तस्वीर ले लूँ और उसे इंटरनेट में डाल दूँ, तो यह उसके गोपनीयता के अधिकार का उल्लंघन होगा।

चौथे, नागरिकों को अपने अधिकारों पर लगाए जाने वाले नियंत्रणों के बारे में चौकस रहना होगा। आजकल एक विषय जिस पर बहुत अधिक चर्चा हो रही है। यह बढ़ते प्रतिबंधों से संबंधित है। ये प्रतिबंध कई सरकारें राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर लोगों की नागरिक स्वतंत्रताओं पर लगा रही हैं। नागरिकों के अधिकारों और भलाई की रक्षा के लिए ज़रूरी मान कर राष्ट्रीय सुरक्षा की हिफ़ाजत का समर्थन किया जा सकता है। लेकिन किसी बिंदु पर सुरक्षा के लिए आवश्यक मान कर थोपे गये प्रतिबंध अपने-आप में लोगों के अधिकारों के लिए खतरा बन जायें तो? क्या आतंकी बमबारी की धमकी का सामना करते राष्ट्र को अपने नागरिकों की आजादी छीन लेने की इज़ाज़त दी जा सकती है? क्या उसे महज संदेह के आधार पर किसी को गिरफ्तार करने की अनुमति मिलनी चाहिए? क्या उसे लोगों की चिट्ठियाँ देखने या फोन टेप करने की छूट दी जा सकती है? क्या सच कबूल करवाने के लिए उसे यातना का सहारा लेने दिया जाना चाहिए? ऐसी स्थितियों में यह सवाल उठता ही है कि संबद्ध व्यक्ति समाज के लिए खतरा तो नहीं

अधिकार

वाद-विवाद-संवाद

किसी व्यक्ति के अधिकार वहाँ खत्म हो जाते हैं, जहाँ दूसरे व्यक्ति की नाक शुरू होती है।

पैदा कर रहा है? गिरफ्तार लोगों को भी कानूनी सलाह की इज़ाज़त और दंडाधिकारी या न्यायालय के सामने अपना पक्ष पेश करने का अवसर मिलना चाहिए। लोगों की नागरिक स्वतंत्रता में कटौती करते वक्त हमें अत्यंत सावधान होने की ज़रूरत है क्योंकि इनका आसानी से दुरुपयोग किया जा सकता है। सरकारें निरंकुश हो सकती हैं और वे उन उद्देश्यों की ही जड़ खोद सकती हैं जिनके लिए सरकारें बनती हैं – यानी लोगों के कल्याण की। इसलिए यह मानते हुए भी कि अधिकार कभी संपूर्ण–सर्वोच्च नहीं हो सकते, हमें अपने और दूसरों के अधिकारों की रक्षा करने में चौकस रहने की ज़रूरत है क्योंकि ये लोकतांत्रिक समाज की बुनियाद का निर्माण करते हैं।

अधिकार

10 दिसंबर 1948 को संयुक्त राष्ट्र की सामान्य सभा ने **मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा** को स्वीकार और लागू किया। इस **घोषणा** की प्रस्तावना का पाठ नीचे दिया गया है। इस ऐतिहासिक कृत्य को आगे बढ़ाते हुए सामान्य सभा ने सभी सदस्य देशों से **मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा** के पाठ को प्रचारित करने का आवाह्न किया। सामान्य सभा ने **देश या क्षेत्र की राजनीतिक स्थिति पर ध्यान न देते हुए इसे विशेष तौर से विद्यालयों और अन्य शैक्षिक संस्थानों में** प्रसारित और प्रदर्शित करने एवं पढ़ने और पढ़वाने का आवाह्न किया।

मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा की प्रस्तावना

चूँकि, मानव परिवार के सभी सदस्यों की स्वाभाविक अंतर्निहित गरिमा तथा उनके समान एवं अत्याज्य अधिकारों की प्रतिष्ठा विश्व में स्वतंत्रता, न्याय तथा शांति की आधारशिला है।

चूँकि, मानव अधिकारों के उपहास तथा अवमानना के कारण मानवीय-चेतना को भयभीत करने वाले क्रूरतापूर्ण कृत्य प्रतिफलित हुए हैं, इसलिए यह अनिवार्य है कि एक ऐसे विश्व की स्थापना हो जिसमें सभी मनुष्य भाषण तथा विश्वास की स्वतंत्रता हासिल तथा भय तथा अभाव से मुक्ति प्राप्त कर सकें, जो मानव समुदाय की सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलाषा है।

चूँकि, यह आवश्यक है कि मनुष्य को अत्याचार तथा दमन के विरुद्ध अंतिम अस्त्र के रूप में विद्रोह न करना पड़े, इसलिए विधि के शासन के द्वारा मानवाधिकारों की रक्षा हो।

चूँकि, राष्ट्रों के मध्य मित्रतापूर्ण संबंधों की स्थापना को प्रोत्साहित करना आवश्यक है।

चूँकि, संयुक्त राष्ट्रसंघ के देशों ने घोषणा पत्र में मूलभूत मानवाधिकारों, मनुष्य की गरिमा तथा महत्त्व तथा पुरुषों तथा महिलाओं के समान अधिकारों के प्रति अपना विश्वास पुन: व्यक्त किया तथा व्यापक स्वतंत्रता की उपलब्धि हेतु उत्तम जीवन स्तर तथा सामाजिक विकास को प्रोत्साहित करने का संकल्प लिया है,

चूँकि, सदस्य देशों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के सहयोग से मानव अधिकारों तथा मूल स्वतंत्रताओं के विश्व स्तर पर सम्मान तथा अनुपालन को प्रोत्साहित करने का संकल्प लिया है,

चूँकि, उक्त संकल्पों की पूर्ण उपलब्धि हेतु इन अधिकारों और स्वतंत्रताओं की सार्वदेशिक अवधारणा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

अत: आज संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा, मानवाधिकारों के विश्वजनीन घोषणा पत्र को सभी सभ्यताओं तथा देशों के लिए उपलब्धि के सर्वमान्य मानदंड के रूप में एतदर्थ घोषित करती है *कि प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज का प्रत्येक अंग इस घोषणा पत्र का सदा विचार रखते हुए इन अधिकारों तथा स्वतंत्रता, स्वतंत्रताओं की मर्यादा को अध्यापन तथा शिक्षा के माध्यमों द्वारा प्रोत्साहित करेगा तथा विकासोन्मुख राष्ट्रीय - अंतर्राष्ट्रीय साधनों द्वारा इनकी सर्वदेशिक तथा सशक्त स्वीकृति एवं अनुपालन को आपस में, सदस्य देशों की जनता के बीच तथा उनके क्षेत्राधिकार के अंतर्गत आनेवाले प्रदेशों की जनता के बीच स्थापित करेगा।*

अधिकार

प्रश्नावली

1. अधिकार क्या हैं और वे महत्त्वपूर्ण क्यों हैं? अधिकारों का दावा करने के लिए उपयुक्त आधार क्या हो सकते हैं?

2. किन आधारों पर यह अधिकार अपनी प्रकृति में सार्वभौमिक माने जाते हैं?

3. संक्षेप में उन नए अधिकारों की चर्चा कीजिए, जो हमारे देश में सामने रखे जा रहे हैं। उदाहरण के लिए आदिवासियों के अपने रहवास और जीने के तरीके को संरक्षित रखने तथा बच्चों के बँधुआ मज़दूरी के खिलाफ अधिकार जैसे नए अधिकारों को लिया जा सकता है।

4. राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों में अंतर बताइये। हर प्रकार के अधिकार के उदाहरण भी दीजिए।

5. अधिकार राज्य की सत्ता पर कुछ सीमाएँ लगाते हैं। उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए।

अध्याय 6

नागरिकता

परिचय

हमने अपनी बात नागरिकता की सुप्रसिद्ध परिभाषा से शुरू करें कि नागरिकता एक राजनीतिक समुदाय की पूर्ण और समान सदस्यता है। इस अध्याय में हम यह छानबीन करेंगे कि आज नागरिकता का सही–सही अर्थ क्या है? इसके बाद हम उन बहसों और संघर्षों पर दृष्टिपात करेंगे, जो 'पूर्ण और समान सदस्यता' की व्याख्या के संदर्भ चल रहे हैं। अगले परिच्छेद में नागरिक और राष्ट्र के बीच संबंध तथा विभिन्न देशों में स्वीकृत नागरिकता की कसौटी पर चर्चा होगी। नागरिकता के लोकतांत्रिक सिद्धांतों का निहितार्थ है कि नागरिकता सार्वभौम होनी चाहिए। क्या इसका यह अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी राष्ट्र का सदस्य मान लेना चाहिए? ऐसी हालत में हम तमाम राष्ट्रविहीन लोगों के अस्तित्व की व्याख्या कैसे करेंगे? इस मुद्दे पर बाद के परिच्छेद में विचार किया जाएगा। आखिरी परिच्छेद में वैश्विक नागरिकता के मुद्दे पर विचार होगा कि क्या इसका अस्तित्व है और क्या यह राष्ट्रीय नागरिकता की जगह ले सकती है?

इस अध्याय को पढ़ने के बाद

- ☐ नागरिकता के अर्थ की व्याख्या करने और
- ☐ आज जिन क्षेत्रों में इस अर्थ को विस्तार दिया जा रहा है या चुनौती दी जा रही है, उनमें से कुछ पर विचार करने में समर्थ होंगे ।

नागरिकता

6.1 भूमिका

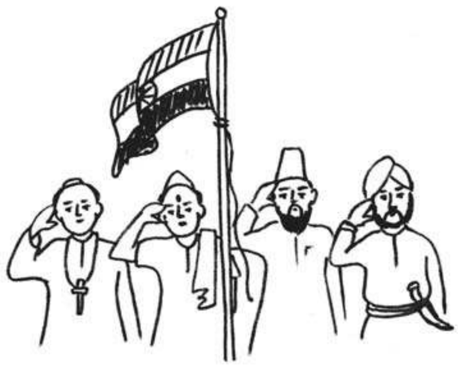

नागरिकता की परिभाषा किसी राजनीतिक समुदाय की पूर्ण और समान सदस्यता के रूप में की गई है। समकालीन विश्व में राष्ट्रों ने अपने सदस्यों को एक सामूहिक राजनीतिक पहचान के साथ-साथ कुछ अधिकार भी प्रदान किए हैं। इसलिए हम संबद्ध राष्ट्र के आधार पर अपने को भारतीय, जापानी या जर्मन मानते हैं। नागरिक अपने राष्ट्र से कुछ बुनियादी अधिकारों के अलावा कहीं भी यात्रा करने में सहयोग और सुरक्षा की अपेक्षा रखते हैं।

किसी राष्ट्र के संपूर्ण सदस्य होने का महत्त्व तब ठीक-ठीक समझ में आ सकता है, जब हम दुनिया भर में उन हज़ारों लोगों की स्थिति के बारे में सोचते हैं, जो दुर्भाग्यवश शरणार्थी और अवैध प्रवासियों के रूप में रहने के लिए मज़बूर हैं, क्योंकि उन्हें कोई राष्ट्र अपनी सदस्यता देने के लिए तैयार नहीं है। ऐसे लोगों को कोई राष्ट्र अधिकारों की गारंटी नहीं देता और वे आम तौर पर असुरक्षित हालत में जीवनयापन करते हैं। मनपसंद राष्ट्र की पूर्ण सदस्यता उनके लिए ऐसा लक्ष्य है जिसके लिए वे संघर्ष करने को तैयार हैं, जैसा कि आज हम मध्यपूर्व के फिलिस्तीनी शरणार्थियों के मामले में देखते हैं।

नागरिकों को प्रदत्त अधिकारों की सुस्पष्ट प्रकृति विभिन्न राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न हो सकती है, लेकिन अधिकतर लोकतांत्रिक देशों ने आज उनमें कुछ राजनीतिक अधिकार शामिल किये हैं। उदाहरणस्वरूप, मतदान, अभिव्यक्ति या आस्था की आज़ादी जैसे नागरिक अधिकार और न्यूनतम मजदूरी या शिक्षा पाने से जुड़े कुछ सामाजिक-आर्थिक अधिकार। अधिकारों और प्रतिष्ठा की समानता नागरिकता के बुनियादी अधिकारों में से एक है।

नागरिक आज जिन अधिकारों का प्रयोग करते हैं उन सभी को संघर्ष के बाद हासिल किया गया है। जनता ने अपनी स्वतंत्रता और अधिकारों को मुखर करने के लिए कुछ

नागरिकता

प्रारंभिक संघर्ष शक्तिशाली राजतंत्रों के खिलाफ छेड़े थे। अनेक यूरोपीय देशों में ऐसे संघर्ष हुए। उनमें से कुछ हिंसक संघर्ष थे, जैसे 1789 की फ्रांसीसी क्रांति। एशिया और अफ्रीका के अनेक उपनिवेशों में समान नागरिकता की माँग औपनिवेशिक शासकों से स्वतंत्रता हासिल करने के संघर्ष का हिस्सा रही। दक्षिण अफ्रीका में समान नागरिकता पाने के लिए अफ्रीका की अश्वेत आबादी को सत्तारूढ़ गोरे अल्पसंख्यकों के खिलाफ लंबा संघर्ष करना पड़ा। यह संघर्ष 1990 के दशक के आरंभ तक ज़ारी रहा। पूर्ण सदस्यता और समान अधिकार पाने का संघर्ष विश्व के कई हिस्सों में आज भी ज़ारी है। आपने देश में महिला आंदोलन और दलित आंदोलन के बारे में पढ़ा होगा। उनका मकसद है अपनी ज़रूरतों की ओर ध्यान आकृष्ट कर जनमत बदलना, साथ ही समान अधिकार और अवसर सुनिश्चित करने के लिए सरकारी नीतियों को प्रभावित करना।

नागरिकता सिर्फ़ राज्यसत्ता और उसके सदस्यों के बीच के संबंधों का निरूपण नहीं, बल्कि उससे अधिक है। यह नागरिकों के आपसी संबंधों के बारे में भी है। इसमें नागरिकों के एक-दूसरे के प्रति और समाज के प्रति निश्चित दायित्व शामिल हैं। इनमें सिर्फ़ राष्ट्र द्वारा थोपी गई कानूनी बाध्यताएँ नहीं, बल्कि समुदाय के सहजीवन में

चिंतन-मंथन

सत्रहवीं से बीसवीं सदी के बीच यूरोप के गोरे लोगों ने दक्षिण अफ्रीका के लोगों पर अपना शासन कायम रखा। 1994 तक दक्षिण अफ्रीका में अपनाई गई नीतियों के बारे में नीचे दिए गए ब्यौरे को पढ़िए।

श्वेत लोगों को मत देने, चुनाव लड़ने और सरकार को चुनने का अधिकार था। वे संपत्ति खरीदने और देश में कहीं भी आने-जाने के लिए स्वतंत्र थे। काले लोगों को ऐसे अधिकार नहीं थे। काले और गोरे लोगों के लिए पृथक मुहल्ले और कालोनियाँ बसाई गई थीं। काले लोगों को अपने पड़ोस की गोरे लोगों की बस्ती में काम करने के लिए 'पास' लेने पड़ते थे। उन्हें गोरों के इलाके में अपने परिवार रखने की अनुमति नहीं थी। अलग-अलग रंग के लोगों के लिए विद्यालय भी अलग-अलग थे।

- ☐ क्या अश्वेत लोगों को दक्षिण अफ्रीका में पूर्ण और समान सदस्यता मिली हुई थी? कारण सहित बताइये।
- ☐ ऊपर दिया गया ब्यौरा हमें दक्षिण अफ्रीका में भिन्न समूहों के अंतर्संबंधों के बारे में क्या बताता है?

नागरिकता

आओ कुछ करके सीखे

अपने क्षेत्र के नागरिकों की गतिविधियों के कुछ वैसे उदाहरणों के बारे में सोचें जो दूसरे की मदद करने अथवा क्षेत्र की उन्नति या फिर पर्यावरण की रक्षा से संबंधित हों। ऐसी कुछ गतिविधियों की एक सूची बनाएँ जो आपके हमउम्र युवाओं द्वारा अपनाई जा सकती हैं।

भागीदार होने और योगदान करने का नैतिक दायित्व भी शामिल होता है। नागरिकों को देश के सांस्कृतिक और प्राकृतिक संसाधनों का उत्तराधिकारी और न्यासी भी माना जाता है।

किसी राजनीतिक अवधारणा को समझने का अच्छा तरीका उन उदाहरणों की पड़ताल करना है, जिनमें जाने-माने अर्थों पर ऐसे समूहों द्वारा सवालिया निशान लगाया जा रहा है, जो महसूस करते हैं कि उनमें उनकी ज़रूरतों और आकांक्षाओं का खयाल नहीं किया गया।

6.2 संपूर्ण और समान सदस्यता

अगर आपने कभी भीड़ भरे रेल के डिब्बे या बस में सफर किया है तो आप इस चलन से अवगत होंगे कि वे लोग, जो प्रवेश पाने के लिए पहले शायद एक-दूसरे से लड़ पड़े थे, अंदर पहुँचते ही दूसरों को बाहर रखने के साझे स्वार्थ में शामिल हो जाते हैं। जल्दी ही 'भीतरी' और 'बाहरी' का विभाजन उभर आता है और 'बाहरी' को खतरे के रूप में देखा जाने लगता है।

इसी तरह की प्रक्रियाएँ समय-समय पर नगरों, प्रदेशों या कभी-कभार तो पूरे राष्ट्र में चलती हैं। अगर आजीविका, चिकित्सा या शिक्षा जैसी सुविधाएँ और जल-जमीन जैसे प्राकृतिक संसाधन सीमित हों, तब 'बाहरी' लोगों के प्रवेश को रोकने की माँग उठने की संभावना रहती है, भले ही वे सहनागरिक क्यों न हों। आपको 'मुंबई मुंबईकर (मुंबई वाले) के लिए' का नारा शायद याद हो, जिससे ऐसी भावनाएँ प्रकट हुईं। भारत और विश्व के विभिन्न हिस्सों में इस तरह के अनेक संघर्ष होते आये हैं।

इससे यह प्रश्न उठता है कि आखिर 'संपूर्ण और समान सदस्यता' का असली अर्थ क्या है? क्या इसका अर्थ यह होता है कि नागरिकों को देश में जहाँ भी चाहें रहने, पढ़ने या काम करने का समान अधिकार और अवसर मिलना चाहिए? क्या इसका अर्थ यह है कि सभी अमीर-गरीब नागरिकों को कुछ बुनियादी अधिकार और सुविधाएँ मिलनी चाहिए?

इस परिच्छेद में हम पहले इन प्रश्नों के आधार पर नागरिकता का अर्थ खोजेंगे।

अपने देश और अन्य अनेक देशों में नागरिकों को प्रदत्त अधिकारों में एक है गमनागमन की स्वतंत्रता। यह अधिकार कामगारों के लिए विशेष महत्त्व का है। गृहक्षेत्र में अवसर

नागरिकता

उपलब्ध नहीं होने पर कामगार रोजगार की तलाश में आप्रवास की ओर प्रवृत्त होते हैं। रोजगार की तलाश में कुछ लोग देश के बाहर भी जाते हैं। हमारे देश के विभिन्न हिस्से में कुशल और अकुशल मज़दूरों के लिए बाज़ार विकसित हुए हैं। उदाहरण के लिए, सूचना तकनीक के अधिकतर कर्मी बंगलोर जैसे शहरों की ओर उमड़ते हैं। केरल की नर्सें पूरे देश में कहीं भी मिल सकती हैं। शहरों में तेज़ी से पनपता भवन-निर्माण उद्योग देश के विभिन्न हिस्सों के श्रमिकों को आकर्षित करता है। सड़क आदि आधारभूत संरचनाओं की परियोजनाओं में भी यही होता है। आपने अपने घर या स्कूल के आसपास विभिन्न क्षेत्र के मज़दूरों को देखा भी होगा।

हालाँकि, अधिक संख्या में रोजगार बाहर के लोगों के हाथ में जाने के खिलाफ अक्सर स्थानीय लोगों में प्रतिरोध की भावना पैदा हो जाती है। कुछ नौकरियों या कामों को राज्य के मूल निवासियों या स्थानीय भाषा को जानने वाले लोगों तक सीमित रखने की माँग उठती है। राजनीतिक पार्टियाँ यह मुद्दा उठाती हैं। यह प्रतिरोध 'बाहरी' के खिलाफ संगठित हिंसा का भी रूप ले लेता है। भारत के लगभग सभी क्षेत्र इस तरह के आंदोलनों से गुजर चुके हैं। क्या ऐसे आंदोलन हमेशा न्यायसंगत होते हैं?

मार्टिन लूथर किंग

1950 का दशक संयुक्त राज्य अमेरिका के अनेक दक्षिणी राज्यों में काली और गोरी आबादी के बीच बरकरार विषमताओं के खिलाफ नागरिक अधिकार आंदोलन के उभार का साक्षी है। इस तरह की विषमताएँ इन राज्यों द्वारा पृथक्करण कानून के नाम से चर्चित ऐसे कानूनों के ज़रिए पोषित होती थीं, जिनसे काले लोगों को अनेक नागरिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित किया जाता था। उन कानूनों ने विभिन्न नागरिक सुविधाओं, जैसे रेल, बस, रंगशाला, आवास, होटल, रेस्टुरेंट आदि में गोरे और काले लोगों के लिए अलग-अलग स्थान निर्धारित कर रखे थे। इन कानूनों के कारण काले और गोरे बच्चों के स्कूल भी अलग-अलग थे।

इन कानूनों के खिलाफ हुए आंदोलन में मार्टिन लूथर किंग जूनियर अग्रणी काले नेता थे। उन्होंने इनके खिलाफ अनेक अकाट्य तर्क दिए। पहला, आत्म-गौरव व आत्म-सम्मान के मामले में विश्व की हर जाति या वर्ण का मनुष्य बराबर है। दूसरा, किंग ने कहा कि पृथक्करण राजनीति के चेहरे पर 'सामाजिक कोढ़' की तरह है क्योंकि यह उन लोगों को गहरे मनोवैज्ञानिक ज़ख्म देता है, जो ऐसे कानूनों के शिकार हैं।

किंग ने दलील दी कि पृथक्करण की प्रथा गोरे समुदाय के जीवन की गुणवत्ता भी कम करती है। वे इसे उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं। गोरे समुदाय ने अदालत के निर्देशानुसार कुछ सामुदायिक उद्यानों में काले लोगों को प्रवेश की इज़ाजत देने के बजाय उन्हें बंद करने का फ़ैसला किया। इसी तरह कुछ बेसबॉल टीमें टूट गईं क्योंकि अधिकारी काले खिलाड़ियों को स्वीकार करना नहीं चाहते थे। तीसरी, पृथक्करण कानून लोगों के बीच कृत्रिम सीमाएँ खींचते हैं और उन्हें देश के व्यापक हित के लिए एक-दूसरे का सहयोग करने से रोकते हैं। इन कारणों से किंग ने बहस छेड़ी कि उन कानूनों को खत्म कर दिया जाना चाहिए। उन्होंने पृथक्करण कानूनों के खिलाफ शांतिपूर्ण और अहिंसक प्रतिरोध का आह्वान किया। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा — ''हमें अपने रचनात्मक प्रतिरोध को कभी भी शारीरिक हिंसा में ढालकर पतन का शिकार नहीं होने देना चाहिए।''

नागरिकता

किसी अन्य देश में स्थानीय लोगों द्वारा भारतीय कामगारों के साथ दुर्व्यवहार किए जाने पर हम सब गुस्से से भर उठते हैं। संभव है, हममें से कुछ यह भी मानें कि कुशल और शिक्षित कामगारों को काम के लिए कहीं भी आने-जाने का अधिकार है। राज्य भी इस तरह के कामगारों को आकर्षित करने की अपनी योग्यता पर गर्व कर सकता है। लेकिन अगर किसी क्षेत्र में काम अपर्याप्त हों, तो संभव है, स्थानीय लोग 'बाहरी लोगों' की प्रतिद्वंद्विता से नाराज हों। तो क्या गमनागमन की आज़ादी में देश के किसी भी हिस्से में काम करने या बसने का अधिकार शामिल है?

एक अन्य बात पर हमें विचार करने की ज़रूरत है और वह, यह कि गरीब प्रवासी और कुशल प्रवासी को लेकर कभी-कभी हमारी प्रतिक्रिया में अंतर होता है। हम अपने इलाकों में आने-जाने वाले गरीब प्रवासियों को हमेशा उस तरह स्वागत योग्य नहीं मानते, जिस तरह कुशल और दौलतमंद कामगारों को मानते हैं। इससे प्रश्न उठता है कि क्या गरीब और अकुशल कामगारों को कुशल कामगारों की तरह देश में कहीं भी रहने और काम करने का समान अधिकार है? देश के सभी नागरिकों की 'पूर्ण और समान सदस्यता' से संबंधित ये कुछ ऐसे मुद्दे हैं, जिन पर आज हमारे देश में बहस चल रही है।

यूँ कभी-कभी लोकतांत्रिक समाजों में भी विवाद उठ सकते हैं। ऐसे विवादों का निदान कैसे हो? प्रतिवाद करने का अधिकार हमारे संविधान में नागरिकों के लिए सुनिश्चित की गई अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का एक पहलू है, बशर्ते वह प्रतिवाद दूसरे लोगों या राज्य के जीवन और संपत्ति को नुकसान नहीं पहुँचाये। नागरिक समूह बनाकर, प्रदर्शन कर, मीडिया का उपयोग कर, राजनीतिक दलों से अपील कर या अदालत में जाकर जनमत और सरकारी नीतियों को परखने और प्रभावित करने के लिए स्वतंत्र हैं। अदालतें उस पर निर्णय दे सकती हैं या समाधान के लिए सरकार से आग्रह कर सकती हैं। यह भले ही धीमी प्रक्रिया हो पर इससे कई बार न्यूनाधिक सफलताएँ संभव हैं। अगर सभी नागरिकों को पूर्ण और समान सदस्यता उपलब्ध कराने के दिशा-निर्देशक सिद्धांत का अनुपालन सुनिश्चित हो तो किसी समाज में समय-समय पर उत्पन्न होने वाली समस्याओं के लिए सर्वमान्य समाधान पर पहुँचना संभव होना चाहिए। लोकतंत्र का यह एक बुनियादी सिद्धांत है कि ऐसे विवादों का समाधान बल प्रयोग के बजाय संधि-वार्ता और विचार-विमर्श से हो। यह नागरिकता के प्रमुख दायित्वों में से एक है।

चिंतन-मंथन

नागरिकों के लिए देशभर में गमनागमन और रोजगार की स्वतंत्रता के पक्ष और विपक्ष के तर्कों की जाँच-पडताल करें। क्या किसी क्षेत्र में लंबे समय से रहने वाले निवासियों को रोजगार और सुविधाओं में प्राथमिकता मिलनी चाहिए?

क्या राज्यों को व्यावसायिक कॉलेजों में बाहरी छात्रों के प्रवेश के लिए कोटा निर्धारित करने की अनुमति दी जानी चाहिए?

नागरिकता

प्रवासी मज़दूरों के बिना भारत के शहरी मध्यवर्ग के जीवन का एक दिन

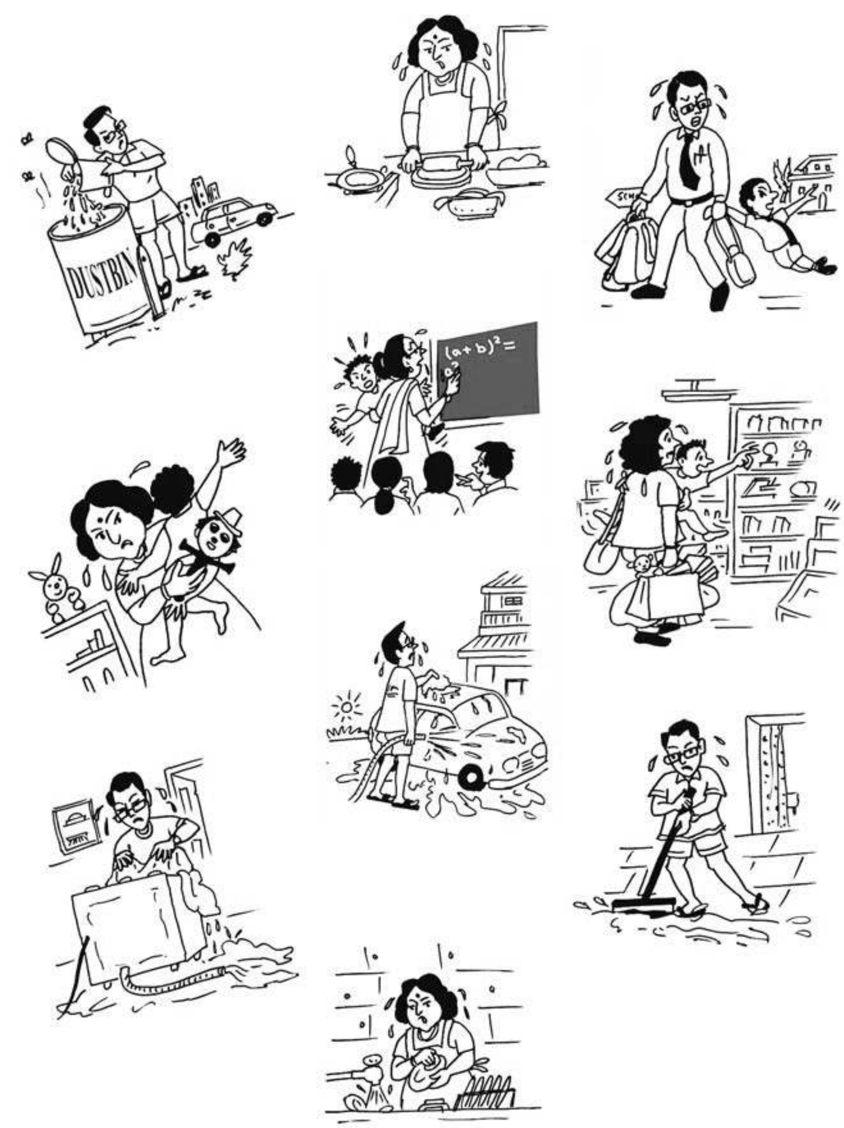

नागरिकता

6.3 समान अधिकार

इस भाग में हम नागरिकता के एक अन्य पहलू की तहकीकात करेंगे। क्या पूर्ण और समान नागरिकता का अर्थ यह है कि राजसत्ता द्वारा सभी नागरिकों को, चाहे वे अमीर या गरीब हों कुछ बुनियादी अधिकारों और न्यूनतम जीवन स्तर की गारंटी दी जानी चाहिए? इस मुद्दे पर विचार करने के लिए हम खास वर्ग के लोगों पर नज़र डालेंगे, यानी शहरी गरीबों पर। शहरी गरीबों से सबंधित समस्या उन अत्यावश्यक समस्याओं में से एक है, जो सरकार के सामने मुँह बाये खड़ी हैं।

भारत के हर शहर में बहुत बड़ी आबादी झोपड़पट्टियों और अवैध कब्जे की जमीन पर बसे लोगों की है। यद्यपि ये लोग अपरिहार्य और उपयोगी काम अक्सर कम मज़दूरी पर करते हैं फिर भी शहर की बाकी आबादी उन्हें अवांछनीय मेहमान की तरह देखती है। उन पर शहर के संसाधनों पर बोझ बनने या अपराध और बीमारी फैलाने का आरोप मढ़ा जाता है।

गंदी बस्तियों की स्थिति अक्सर वीभत्स होती हैं। छोटे-छोटे कमरों में कई-कई लोग ठुँसे रहते हैं। यहाँ न निजी शौचालय होता है, न जलापूर्ति और न सफाई। गंदी बस्तियों में जीवन और संपत्ति असुरक्षित होते हैं। झोपड़पट्टियों के निवासी अपने श्रम से अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं। अन्य पेशों के बीच ये फेरीवाले, छोटे व्यापारी, सफाईकर्मी या घरेलू नौकर, नल ठीक करने वाले या मिस्त्री होते हैं। झोपड़पट्टियों में बेंत बुनाई या कपड़ा रंगाई-छपाई या सिलाई जैसे छोटे कारोबार भी चलते हैं। झोपड़पट्टियों के निवासियों को सफाई या जलापूर्ति जैसी सुविधाएँ मुहैया कराने पर संभवत: कोई भी शहर अपेक्षाकृत कम खर्च करता है।

शहरी गरीबों की हालत के प्रति सरकार, स्वयंसेवी संगठन और अन्य एजेंसियों सहित स्वयं झोपड़पट्टी के निवासियों में भी जागरूकता बढ़ रही है। मिसाल के तौर पर, जनवरी 2004 में फुटपाथी दुकानदारों के लिए एक राष्ट्रीय नीति तैयार की गयी। बड़े शहरों में लाखों फुटपाथी दुकानदार हैं और उनको अक्सर पुलिस और नगर प्रशासकों का उत्पीड़न झेलना पड़ता है। इस नीति का मकसद विक्रेताओं को मान्यता और नियमन प्रदान करना था ताकि उन्हें सरकारी नियमों के अनुपालन के दायरे में उत्पीड़न से मुक्त कारोबार चलाने की शक्ति हासिल हो।

झोपड़पट्टियाँ भी अपने अधिकारों के प्रति जागरूक और संगठित हो रही हैं। उन्होंने कभी-कभी अदालतों में भी दस्तक दी है। उनके लिए वोट देने जैसी बुनियादी राजनीतिक अधिकार का प्रयोग करना भी कठिन हो जाता है क्योंकि मतदाता सूची में दर्ज़ होने के लिए स्थायी पते की ज़रूरत होती है और अनधिकृत बस्तियों और पटरी पर रहने वाले के लिए ऐसा पता पेश करना कठिन होता है।

नागरिकता, समानता और अधिकार

नागरिकता महज एक कानूनी अवधारणा नहीं है। इसका समानता और अधिकारों के व्यापक उद्देश्यों से भी घनिष्ट संबंध है। इस संबंध का सर्वसम्मत सूत्रीकरण अंग्रेज समाजशास्त्री टी.एच.मार्शल (1893-1981) ने किया है। अपनी पुस्तक 'नागरिकता और सामाजिक वर्ग' (1950) में मार्शल ने नागरिकता को 'किसी समुदाय के पूर्ण सदस्यों को प्रदत्त प्रतिष्ठा' के रूप में परिभाषित किया है। इस प्रतिष्ठा को ग्रहण करने वाले सभी लोग प्रतिष्ठा में अंतर्भूत अधिकारों और कर्त्तव्यों के मामले में बराबर होते हैं।

नागरिकता की मार्शल द्वारा प्रदत्त कुंजी धारणा में मूल संकल्पना 'समानता' की है। इसमें दो बातें अंतर्निहित हैं। पहली कि प्रदत्त अधिकार और कर्त्तव्यों की गुणवत्ता बढ़े। दूसरी कि उन लोगों की संख्या बढ़े जिन्हें वे दिए गए हैं।

मार्शल नागरिकता में तीन प्रकार के अधिकारों को शमिल मानते हैं - नागरिक, राजनीतिक और सामाजिक अधिकार।

नागरिक अधिकार व्यक्ति के जीवन, आज़ादी और जायदाद की हिफ़ाजत करते हैं। राजनीतिक अधिकार व्यक्ति को शासन प्रक्रिया में सहभागी बनने की शक्ति प्रदान करते हैं। सामाजिक अधिकार व्यक्ति के लिए शिक्षा और रोजगार को सुलभ बनाते हैं। कुल मिलाकर ये अधिकार नागरिक के लिए इज्जत के साथ जीवन-बसर करना संभव बनाते हैं।

मार्शल ने सामाजिक वर्ग को 'असमानता की व्यवस्था' के रूप में चिन्हित किया। नागरिकता वर्ग पदानुक्रम के विभाजक परिणामों का प्रतिकार कर समानता सुनिश्चित करती है। इस प्रकार यह बेहतर सुबद्ध और समरस समाज रचना को सुसाध्य बनाता है।

हमारे समाज में हाशिए पर ठेले जा रहे अन्य इन्सानी समूहों में आदिवासी और वनवासी शामिल हैं। ये लोग अपने जीवनयापन के लिए जंगल और अन्य प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर हैं। बढ़ती आबादी और जमीन और संसाधनों की कमी के दबाव के कारण उनमें से अनेक की जीवन-पद्धत्ति और आजीविका संकट में है। जंगल और तराई-क्षेत्र में मौजूद खनिज संसाधनों की खनन करने के इच्छुक उद्यमियों के हितों का दबाव आदिवासी और वनवासी लोगों की जीवन पद्धत्ति और आजीविका पर एक अन्य खतरा है। पर्यटन उद्योग भी यही कर रहा है। सरकारें इस सवाल से जूझ रही हैं कि देश के विकास को खतरे में डाले बगैर इन लोगों और इनके रहवास की सुरक्षा कैसे करें? यह ऐसा मुद्दा है जो सिर्फ़ आदिवासी आबादी नहीं बल्कि सभी नागरिकों को प्रभावित करता है।

सभी नागरिकों को समान अधिकार और अवसर देने पर विचार करना और सुनिश्चित करना किसी सरकार के लिए आसान मामला नहीं होता। विभिन्न समूह के लोगों की ज़रूरत और समस्याएँ अलग-अलग हो सकती हैं और एक समूह के अधिकार दूसरे समूह के अधिकारों के प्रतिकूल हो सकते हैं। नागरिकों के लिए समान अधिकार का मतलब यह नहीं होता कि सभी लोगों पर समान नीतियाँ लागू कर दी जाएँ, क्योंकि विभिन्न समूह के लोगों की ज़रूरतें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। अगर प्रयोजन सिर्फ़ ऐसी नीति बनाना नहीं

नागरिकता

नागरिकता, समानता और अधिकार

सर्वोच्च न्यायालय ने मुंबई की झोपड़पट्टियों में रहनेवालों के अधिकारों के बारे में समाजकर्मी ओल्गा टेलिस की जनहित याचिका (ओल्गा टेलिस बनाम बंबई नगर निगम) पर 1985 में एक महत्त्वपूर्ण फ़ैसला दिया। याचिका में कार्यस्थल के निकट रहने की वैकल्पिक जगह उपलब्ध नहीं होने के कारण फुटपाथ या झोपड़पट्टियों में रहने के अधिकार का दावा किया गया था। अगर यहाँ रहने वालों को हटने के लिए मज़बूर किया गया तो उन्हें आजीविका भी गँवानी पड़ेगी। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि संविधान की धारा-21 में जीने के अधिकार की गारंटी दी गई है, जिसमें आजीविका का अधिकार शामिल है। इसलिए अगर फुटपाथवासियों को बेदखल करना हो, तो उन्हें आश्रय के अधिकार के तहत पहले वैकल्पिक जगह उपलब्ध करानी होगी।

है, जो सभी लोगों पर एक तरह से लागू हो बल्कि लोगों को अधिक बराबरी पर लाना है, तो नीतियाँ तैयार करते वक्त लोगों की विभिन्न ज़रूरतों और दावों का ध्यान रखना होगा।

इस विमर्श से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वैश्विक स्थिति, अर्थव्यवस्था और समाज में बदलाव नागरिकता के अर्थ और अधिकारों की नई व्याख्या की माँग करते हैं। नागरिकता से संबंधित औपचारिक कानून प्रस्थान बिंदु भर होते हैं और कानूनों की व्याख्या निरंतर विकसित होती है। हालाँकि कुछ ऐसी समस्याएँ उठ सकती हैं जिनका समाधान पाना आसान न हो, फिर भी समान नागरिकता की अवधारणा का अर्थ यही है कि सभी नागरिकों को समान अधिकार और सुरक्षा प्रदान करना सरकारी नीतियों का मार्गदर्शक सिद्धांत हो।

6.4 नागरिक और राष्ट्र

राष्ट्र राज्य की अवधारणा आधुनिक काल में विकसित हुई। राष्ट्र राज्य की संप्रभुता और नागरिकों के लोकतांत्रिक अधिकारों का दावा सर्वप्रथम 1789 में फ्रांस के क्रांतिकारियों ने किया था। राष्ट्र-राज्यों का दावा है कि उनकी सीमाएँ सिर्फ राज्यक्षेत्र को नहीं, बल्कि एक अनोखी संस्कृति और साझा इतिहास को भी परिभाषित करती हैं। राष्ट्रीय पहचान को एक झंडा, राष्ट्रगान, राष्ट्रभाषा या कुछ खास उत्सवों के आयोजन जैसे प्रतीकों से व्यक्त किया जा सकता है।

अधिकतर आधुनिक राज्य अपने में विभिन्न धर्मों, भाषा और सांस्कृतिक परंपराओं के लोगों को सम्मिलित करते हैं। लेकिन एक लोकतांत्रिक राज्य की राष्ट्रीय पहचान में नागरिकों को ऐसी राजनीतिक पहचान देने की कल्पना होती है, जिसमें राज्य के सभी सदस्य भागीदार हो सकें। लोकतांत्रिक देश आमतौर पर अपनी पहचान इस प्रकार परिभाषित करने का प्रयास करते हैं कि वह यथासंभव समावेशी हो यानी जो सभी नागरिकों को राष्ट्र के अंग के रूप में खुद को पहचानने की अनुमति देता हो। लेकिन व्यवहार में अधिकतर देश अपनी पहचान को इस तरह परिभाषित करने की ओर अग्रसर

नागरिकता

हैं, जो कुछ नागरिकों के लिए राष्ट्र के साथ अपनी पहचान कायम करना अन्यों की तुलना में आसान बनाता है। यह राजसत्ता के लिए भी अन्यों की तुलना में कुछ लोगों को नागरिकता देना आसान कर देता है। यह आप्रवासियों का देश होने पर गौरवान्वित होने वाले संयुक्त राज्य अमेरिका के बारे में भी वैसे ही सच है जैसे कि किसी अन्य देश के बारे में।

उदाहरणस्वरूप, फ्रांस ऐसा देश है जो धर्मनिरपेक्ष और समावेशी होने का दावा करता है। वह यूरोपीय मूल के लोगों को ही नहीं, बल्कि उत्तर अफ्रीका जैसे अन्य इलाकों से आए नागरिकों को भी अपने में शामिल करता है। संस्कृति और भाषा इसकी राष्ट्रीय पहचान की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं और सभी नागरिकों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपने जीवन के सार्वजनिक पहलुओं में इस फ्रांसीसी भाषा-संस्कृति से आत्मसात हो जाएँ। हाँ, वे अपने निजी जीवन में अपनी व्यक्तिगत आस्थाओं और रिवाज़ों को बनाए रख सकते हैं। यह एक समुचित नीति लग सकती है लेकिन यह परिभाषित करना हमेशा आसान नहीं होता कि क्या सार्वजनिक है और क्या निजी? और, इसने कुछ विवादों को जन्म दिया है। धार्मिक विश्वास नागरिकों के निजी क्षेत्र का मामला माना जाता है लेकिन कई बार

आओ कुछ करके सीखे

अपने घर, विद्यालय या आसपास कार्यरत तीन कामगार परिवारों का सर्वेक्षण करें। वे कहाँ रहते हैं? आवास में कितने लोग रहते हैं? उन्हें किस तरह की सुविधाएँ उपलब्ध हैं? क्या उनके बच्चे विद्यालय जाते हैं?

चिंतन-मंथन

जिंवाब्वे में भूमि वितरण के बारे में प्रकाशित सरकारी आँकड़ों के अनुसार वहाँ लगभग 4400 गोरे परिवारों के पास लगभग एक करोड़ हेक्टेयर भूमि है। यह देश की कुल कृषि योग्य भूमि का 32 प्रतिशत हिस्सा है।

लगभग दस लाख काले किसानों के पास केवल 1.6 करोड़ हेक्टेयर भूमि है जो कुल का 38 प्रतिशत भाग है। गोरे लोगों के पास जो जमीन है वह सिंचित और उपजाऊ है, जबकि काले लोगों के पास कम उपजाऊ और असिंचित जमीन है। भू- स्वामियों के इतिहास को खोजने से साफ पता चलता है, कि लगभग सौ वर्ष पूर्व गोरे लोगों ने उपजाऊ जमीन स्थानीय निवासियों से अपने कब्जे में ले ली। गोरे लोग जिंवाब्वे में पीढ़ियों से रह रहे हैं और अब स्वयं को जिंवाब्वे वासी समझते हैं। जिंवाब्वे में गोरों की आबादी कुल जनसंख्या की केवल 0.06 प्रतिशत है। 1997 में जिंवाब्वे के राष्ट्रपति राबर्ट मुगाबे ने 1500 बड़े फार्मों पर कब्जा करने की योजना की घोषणा की।

जिंवाब्वे के काले और गोरे नागरिकों के अपने-अपने दावों का समर्थन या विरोध करने के लिए आप नागरिकता के कौन-कौन से विचारों का उपयोग करेंगे।

धार्मिक प्रतीक और रिवाज़ सार्वजनिक जीवन में प्रवेश कर जाते हैं। फ्रांस के सिक्ख छात्रों का स्कूलों में पगड़ी पहनने और मुस्लिम लड़कियों की स्कूली वर्दी के साथ सिर पर दुपट्टा डालने की माँग के बारे में आपने सुना होगा। इसे कुछ स्कूलों ने इस आधार पर अमान्य कर दिया था कि यह सरकारी शिक्षा के सार्वजनिक क्षेत्र में धार्मिक प्रतीकों को लाने का मामला है। जिनके धर्म इस तरह के रिवाज़ों की माँग नहीं करते हैं, उनको निस्संदेह ऐसी समस्या का सामना नहीं करना पड़ता। साफ तौर पर राष्ट्रीय संस्कृति में शामिल होना कुछ समूहों के लिए अन्य की अपेक्षा आसान होता है।

नागरिकता के नए आवेदकों को अनुमति देने की कसौटी हर देश में भिन्न होती है। नागरिकता प्रदान करने में इजराइल या जर्मनी जैसे देशों में धर्म या जातीय मूल जैसे तत्त्वों को वरीयता दी जाती है। एक समय तुर्की मज़दूरों को जर्मनी में आने और काम करने के लिए प्रोत्साहित किया गया था। उनकी स्थायी माँग है कि जर्मनी में ही जन्मे और पले-बढ़े उनके बच्चों को अपने आप जर्मनी की नागरिकता मिल जानी चाहिए। इस पर आज भी बहस जारी है। ये प्रतिबंधों से संबंधित कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जो समावेशी होने का दम भरने वाले लोकतांत्रिक देशों में भी लगे हो सकते हैं।

भारत स्वयं को धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक राष्ट्र-राज्य कहता है। स्वतंत्रता आंदोलन का आधार व्यापक था और विभिन्न धर्म, क्षेत्र और संस्कृति के लोगों को आपस में जोड़ने के कृतसंकल्प प्रयास किए गए। यह सही है कि जब मुस्लिम लीग से विवाद नहीं सुलझाया जा सका, तब 1947 में देश का विभाजन हुआ। लेकिन इसने उस राष्ट्र-राज्य के धर्मनिरपेक्ष और समावेशी चरित्र को कायम रखने के भारतीय राष्ट्रीय नेताओं के निश्चय को और मज़बूत ही किया जिसके निर्माण के लिए वे प्रतिबद्ध थे। यह निश्चय संविधान में सम्मिलित किया गया।

भारतीय संविधान ने बहुत ही विविधतापूर्ण समाज को समायोजित करने की कोशिश की। इन विविधताओं में से कुछ उल्लेखनीय हैं। इसने अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति जैसे भिन्न-भिन्न समुदायों, पूर्व में समान अधिकार से वंचित रही महिलाएँ, आधुनिक सभ्यता के साथ मामूली संपर्क रखने वाले अंदमान और निकोबार द्वीपसमूह के कुछ सुदूरवर्ती समुदायों और कई अन्य समुदायों को पूर्ण और समान नागरिकता देने का प्रयास किया। इसने देश के विभिन्न हिस्सों में प्रचलित विभिन्न भाषाओं, धर्म और रिवाज़ों की पहचान बनाये रखने का प्रयास किया। इसे लोगों को उनकी निजी आस्था, भाषा या सांस्कृतिक रिवाज़ों को छोड़ने के लिए बाध्य किये बिना सभी को समान अधिकार उपलब्ध कराना था। संविधान के ज़रिये आरंभ किया गया यह अद्वितीय प्रयोग था। दिल्ली में गणतंत्र दिवस परेड विभिन्न क्षेत्र, संस्कृति और धर्म के लोगों को सम्मिलित करने के राजसत्ता के प्रयास को प्रतिबिंबित करता है।

नागरिकता से संबंधित प्रावधानों का उल्लेख संविधान के तीसरे भाग और संसद द्वारा बाद में पारित कानूनों में हुआ है। संविधान ने नागरिकता की लोकतांत्रिक और समावेशी धारणा

को अपनाया। भारत में जन्म, वंश-परंपरा, पंजीकरण, देशीकरण या किसी भू-क्षेत्र के राज क्षेत्र में शामिल होने से नागरिकता हासिल की जा सकती है। संविधान में नागरिकों के अधिकार और दायित्व दर्ज हैं। यह प्रावधान भी है कि राज्य को नस्ल/ जाति/ लिंग/ जन्मस्थल में से किसी भी आधार पर नागरिकों के साथ भेदभाव नहीं करना चाहिए। धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों के अधिकारों को भी संरक्षित किया गया है।

आओ कुछ करके सीखे

विद्यालयों या सेना जैसी किसी अन्य सार्वजनिक संस्था के लिए साझा वर्दी पर ज़ोर देना और पगड़ी जैसे धार्मिक प्रतीकों पर प्रतिबंध लगाना उपयुक्त नहीं है?

हालाँकि इस तरह के समावेशी प्रावधानों ने भी संघर्ष और विवादों को जन्म दिया है। महिला आंदोलन, दलित आंदोलन या विकास योजनाओं से विस्थापित लोगों का संघर्ष ऐसे लोगों द्वारा चलाए जा रहे संघर्षों के कुछ नमूने हैं, जो मानते हैं कि उनकी नागरिकता को पूर्ण अधिकारों से वंचित किया जा रहा है। भारत के अनुभव से संकेत मिलते हैं कि किसी देश में लोकतांत्रिक नागरिकता एक परियोजना या लक्ष्य सिद्धि का एक आदर्श है। जैसे-जैसे समाज बदल रहे हैं, वैसे-वैसे नित नए मुद्दे उठाये जा रहे हैं और वे समूह नई माँगें पेश कर रहे हैं जिन्हें लगता है कि वे हाशिये पर ठेले जा रहे हैं। लोकतांत्रिक राज्य में इन माँगों पर खुले दिमाग से बातचीत करनी होती है।

6.5 सार्वभौमिक नागरिकता

जब हम शरणार्थियों या अवैध आप्रवासियों के बारे में सोचते हैं तो मन में अनेक छवियाँ उभरती हैं। उसमें एशिया या अफ्रीका के ऐसे लोगों की छवि हो सकती है जिन्होंने यूरोप या अमेरिका में चोरी-छिपे घुसने के लिए दलाल को पैसे का भुगतान किया हो। इसमें जोखिम बहुत है लेकिन वे प्रयास में तत्पर दिखते हैं। एक अन्य छवि युद्ध या अकाल से विस्थापित लोगों की हो सकती है। इस तरह की छवियाँ अक्सर टेलीविजन पर दिखाई जाती हैं। सूडान के डरफर क्षेत्र के शरणार्थी, फिलीस्तीनी, बर्मी या बंगलादेशी शरणार्थी जैसे कई उदाहरण हैं। ये सभी ऐसे लोग हैं जो अपने ही देश या पड़ोसी देश में शरणार्थी बनने के लिए मज़बूर किये गये हैं।

हम अक्सर मान लेते हैं कि किसी देश की पूर्ण सदस्यता उन सबको उपलब्ध होनी चाहिए, जो सामान्यतया उस देश में रहते और काम करते हैं या जो नागरिकता के लिए आवेदन करते हैं। यूँ अनेक देश वैश्विक और समावेशी नागरिकता का समर्थन करते हैं लेकिन नागरिकता देने की शर्तें भी निर्धारित करते हैं। ये शर्तें आमतौर पर देश के संविधान और कानूनों में लिखी होती है। अवांछित आगंतुकों को नागरिकता से बाहर रखने के लिए राज्यसत्ताएँ ताकत का प्रयोग करती हैं।

हालाँकि प्रतिबंध, दीवार और बाड़ लगाने के बावजूद आज भी दुनिया में बड़े पैमाने पर लोगों का देशांतरण होता है। युद्ध, उत्पीड़न, अकाल या अन्य कारणों से लोग विस्थापित होते हैं। अगर कोई देश उन्हें स्वीकार करने के लिए राज़ी नहीं होता और वे घर नहीं लौट सकते तो वे राज्यविहीन या शरणार्थी हो जाते हैं। वे शिविरों में या अवैध प्रवासी के रूप में रहने के लिए मज़बूर किए जाते हैं। अक्सर वे कानूनी तौर पर काम नहीं कर सकते या अपने बच्चों को पढ़ा-लिखा नहीं सकते या संपत्ति अर्जित नहीं कर सकते। समस्या इतनी विकराल है कि संयुक्त राष्ट्र ने शरणार्थियों की जाँच करने और मदद करने के लिए उच्चायुक्त नियुक्त किया हुआ है।

नागरिक के रूप में कितने लोगों को अंगीकार किया जा सकता है, इस सवाल पर फ़ैसला करना अनेक देशों के लिए कठिन मानवीय और राजनीतिक समस्या बनी हुई है। अनेक देशों में युद्ध या उत्पीड़न से पलायन करने वाले लोगों को अंगीकार करने की नीति है। लेकिन वे भी लोगों की अनियंत्रित भीड़ को स्वीकर करना या सुरक्षा के संदर्भ में देश को जोखिम में डालना नहीं चाहेंगे। भारत उत्पीड़ित लोगों को आश्रय उपलब्ध कराने पर गर्व करता है। ऐसा भारत ने 1958 में दलाई लामा और उनके अनुयायियों के लिए किया। भारतीय राष्ट्र की सभी सीमाओं से पड़ोसी देशों के लोगों का प्रवेश हुआ है और यह प्रक्रिया ज़ारी है। इनमें से अनेक लोग वर्षों या पीढ़ियों तक राज्यहीन व्यक्तियों के रूप में पड़े रहते हैं - शिविरों में या अवैध प्रवासी के रूप में। अंततः इनमें से अपेक्षाकृत कुछ को ही नागरिकता प्राप्त होती है। ऐसी समस्याएँ लोकतांत्रिक नागरिकता के उस वायदे को चुनौती देती है, जो यह कहता है कि समकालीन विश्व में सभी लोगों को नागरिक की पहचान और अधिकार उपलब्ध होने चाहिए। अनेक लोग अपनी पसंद के देश की नागरिकता हासिल नहीं कर सकते, उनके लिए अपनी पहचान का विकल्प भी नहीं होता।

राज्यहीन लोगों का सवाल आज विश्व के लिए गंभीर समस्या बन गया है। राष्ट्रों की सीमाएँ अभी भी युद्ध या राजनीतिक विवादों के ज़रिये पुनर्परिभाषित की जा रही हैं और ऐसे विवादों से घिरे लोगों के लिए इनके परिणाम घातक होते हैं। वे अपने घर, राजनीतिक पहचान और सुरक्षा गँवाते हैं और देशांतरण के लिए मज़बूर किए जाते हैं। क्या नागरिकता ऐसे लोगों की समस्याओं का समाधान बन सकती है? अगर नहीं तो उन्हें आज किस तरह की वैकल्पिक पहचान दी जा सकती है? क्या हमें राष्ट्रीय नागरिकता से अधिक सच्ची विश्वजनीन पहचान को परखना और विकसित करना चाहिए? कभी-कभी विश्व नागरिकता की धारणा के लिए सुझाव पेश किये जाते हैं। इससे जुड़ी संभावनाओं पर अगले खंड में चर्चा की जाएगी।

6.6 विश्व नागरिकता

निम्नलिखित उक्तियों पर गौर करें-

- *2004 में दक्षिण एशिया के कई देशों पर कहर बरपाने वाली सुनामी से पीड़ित लोगों*

नागरिकता

के लिए सहानुभूति और सहायता के भावोद्गार फूट पड़े।

- *आज अंतर्राष्ट्रीय तंत्र का ताना-बाना आतंकवादियों को जोड़ने में मदद करते हैं।*
- *विभिन्न देशों में बर्ड फ्लू के प्रसार और इन्सानों में विषाणुजनित महामारी के संभावित उभार को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र सक्रिय है।*

इन उक्तियों में क्या साझा है? वे उस दुनिया के बारे में क्या बताती हैं, जिसमें हम रहते हैं?

आओ कुछ करके सीखे

भारत में अभी रह रहे कुछ राज्यहीन लोगों की सूची बनाओ। उनमें से किसी पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो।

हम आज एक ऐसे विश्व में रहते हैं जो आपस में जुड़ा हुआ है। संचार के इंटरनेट, टेलीविजन और सेलफोन जैसे नए साधनों ने उन तरीकों में भारी बदलाव कर दिया है, जिनसे हम अपने विश्व को समझते हैं। पहले विश्व के एक हिस्से की गतिविधियों की खबर अन्य हिस्सों तक पहुँचने में महीनों लग जाते थे। लेकिन संचार के नए तरीकों ने विश्व के विभिन्न हिस्सों की हलचलों को हमारे तत्काल संपर्क के दायरे में ला दिया है। हम अपने टेलीविजन के पर्दे पर विनाश और युद्धों को होते देख सकते हैं, इससे विश्व के विभिन्न देशों के लोगों में साझे सरोकार और सहानुभूति विकसित होने में मदद मिली है।

विश्व नागरिकता के समर्थक दलील देते हैं कि चाहे विश्व-कुटंब और वैश्विक समाज अभी विद्यमान नहीं है, लेकिन राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार लोग आज एक-दूसरे से जुड़ा महसूस करते हैं। वे कहेंगे कि एशिया की सुनामी या अन्य बड़ी दैवी आपदाओं के पीड़ितों की सहायता के लिए विश्व के सभी हिस्सों से उमड़ा भावोद्गार विश्व-समाज की उभार का संकेत है। वे मानते हैं कि हमें इस भावना को मज़बूत करना चाहिए और एक विश्व नागरिकता की अवधारणा की दिशा में सक्रिय होना चाहिए।

राष्ट्रीय नागरिकता की अवधारणा यह मानती है कि हमारी राज्यसत्ता हमें वह सुरक्षा और अधिकार दे सकती है जिनकी हमें आज विश्व में गरिमा के साथ जीने के लिए ज़रूरत है। लेकिन राजसत्ताओं के समक्ष आज ऐसी अनेक समस्याएँ हैं, जिनका मुकाबला वे अपने बल पर नहीं कर सकतीं। क्या इस परिस्थिति में राज्यसत्ता द्वारा दिए गए व्यक्तिगत अधिकार लोगों की स्वतंत्रता की सुरक्षा करने के लिए पर्याप्त हैं या क्या मानव अधिकार और विश्व नागरिकता की अवधारणा की ओर बढ़ने का समय आ गया है?

विश्व नागरिकता की धारणा के आकर्षणों में से एक यह है कि इससे राष्ट्रीय सीमाओं के दोनों ओर की उन समस्याओं का मुकाबला करना आसान हो सकता है जिसमें कई देशों की सरकारों और लोगों की संयुक्त कार्रवाई ज़रूरी होती है। उदाहरण के लिए इससे प्रवासी और राज्यहीन लोगों की समस्या का सर्वमान्य समाधान पाना आसान हो सकता है या कम

से कम उनके बुनियादी अधिकार और सुरक्षा सुनिश्चित की जा सकती है चाहे वे जिस किसी देश में रहते हों।

पिछले खंड में हमने देखा कि एक देश के भीतर की समान नागरिकता को सामाजिक–आर्थिक असमानता या अन्य मौजूदा समस्याओं से खतरा हो सकता है। इन समस्याओं का सामाधान अंतत: सिर्फ संबंधित समाज की सरकार और जनता ही कर सकती है। इसलिए लोगों के लिए आज एक राज्य की पूर्ण और समान सदस्यता महत्त्वपूर्ण है। लेकिन विश्व नागरिकता की अवधारणा हमें याद दिलाती है कि राष्ट्रीय नागरिकता को इस समझदारी से जोड़ने की ज़रूरत है कि हम आज अंतर्संबद्ध विश्व में रहते हैं और हमारे लिए यह भी ज़रूरी है कि हम विश्व के विभिन्न हिस्सों के लोगों के साथ अपने रिश्ते मज़बूत करें और राष्ट्रीय सीमाओं के पार के लोगों और सरकारों के साथ काम करने के लिए तैयार हों।

नागरिकता

प्रश्नावली

1. राजनीतिक समुदाय की पूर्ण और समान सदस्यता के रूप में नागरिकता में अधिकार और दायित्व दोनो शामिल हैं। समकालीन लोकतांत्रिक राज्यों में नागरिक किन अधिकारों के उपभोग की अपेक्षा कर सकते हैं? नागरिकों के राज्य और अन्य नागरिकों के प्रति क्या दायित्व हैं?
2. सभी नागरिकों को समान अधिकार दिए तो जा सकते हैं लेकिन हो सकता है कि वे इन अधिकारों का प्रयोग समानता से न कर सकें। इस कथन की व्याख्या कीजिए।
3. भारत में नागरिक अधिकारों के लिए हाल के वर्षों में किए गए किन्हीं दो संघर्षों पर टिप्पणी लिखिए। इन संघर्षों में किन अधिकारों की माँग की गई थी?
4. शरणार्थियों की समस्याएँ क्या हैं? वैश्विक नागरिकता की अवधारणा किस प्रकार उनकी सहायता कर सकती है?
5. देश के अंदर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में लोगों के आप्रवासन का आमतौर पर स्थानीय लोग विरोध करते हैं। प्रवासी लोग स्थानीय अर्थव्यवस्था में क्या योगदान दे सकते हैं?
6. भारत जैसे समान नागरिकता देने वाले देशों में भी लोकतांत्रिक नागरिकता एक पूर्ण स्थापित तथ्य नहीं वरन एक परियोजना है। नागरिकता से जुड़े उन मुद्दों की चर्चा कीजिए जो आजकल भारत में उठाए जा रहे हैं?

अध्याय 7

राष्ट्रवाद

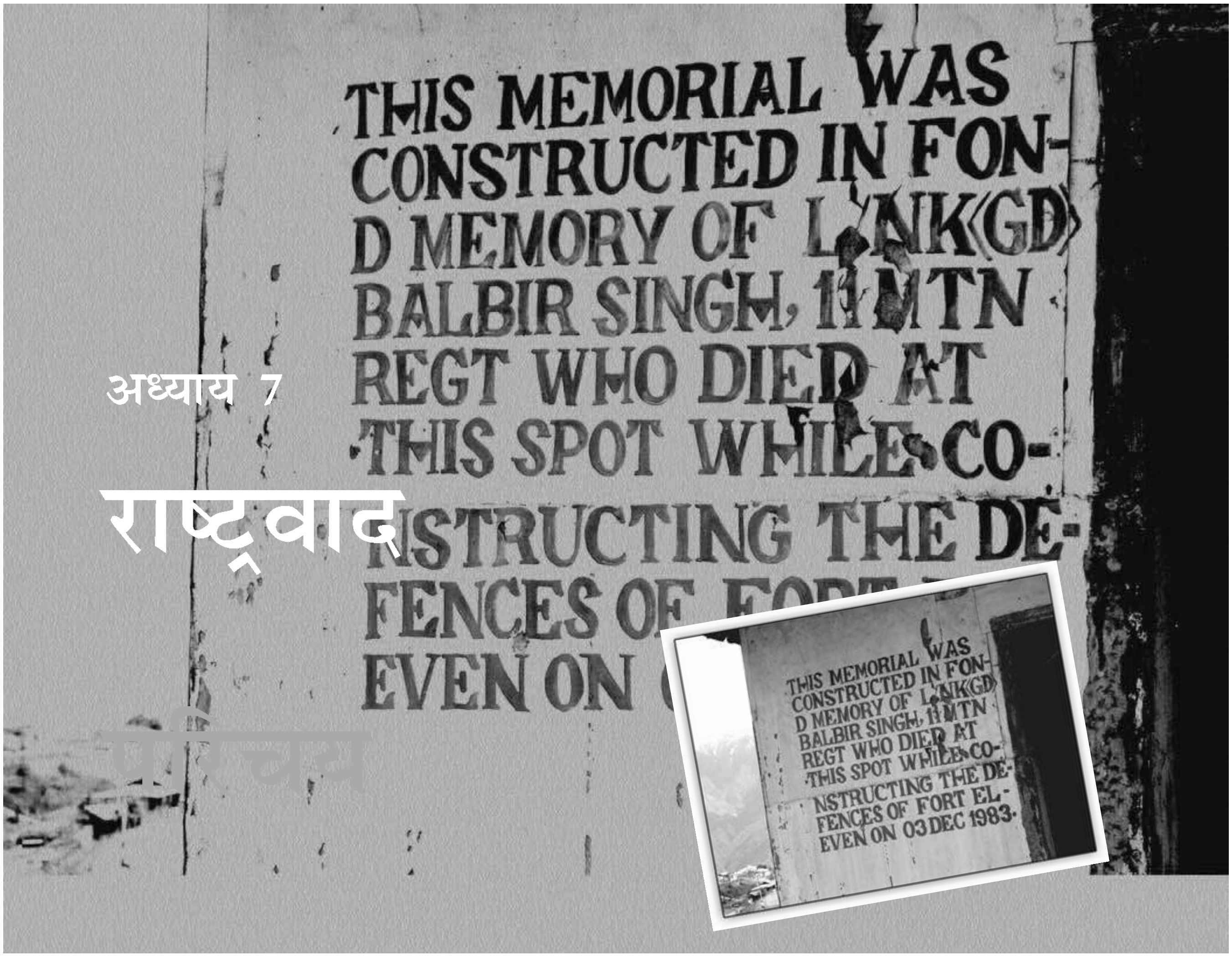

परिचय

इस अध्याय में हम राष्ट्र और राष्ट्रवाद से संबंधित विचारों की जानकारी हासिल करेंगे और उन पर चर्चा करेंगे। हमारे लिए यहाँ यह समझने का अधिक महत्त्व नहीं है कि राष्ट्रवाद का उदय क्यों हुआ और इससे जुड़े कार्य क्या हैं। बल्कि हमारे लिए राष्ट्रवाद के बारे में सावधानीपूर्वक सोचना और इसके साथ इसमें निहित अधिकारों और आकांक्षाओं की परख करना महत्त्वपूर्ण होगा।

इस अध्याय के अध्ययन–मनन से हम–

- राष्ट्र और राष्ट्रवाद की अवधारणाओं को समझने,
- राष्ट्रवाद की शक्ति और सीमाओं को स्वीकार करने और
- लोकतंत्र एवं राष्ट्रवाद के बीच संबंध सुनिश्चित करने की ज़रूरत को स्वीकार करने में समर्थ हो सकेंगे।

7.1 राष्ट्रवाद का परिचय

राष्ट्रवाद शब्द के प्रति आम समझ क्या है? अगर मोटे तौर पर जनता की राय लें तो हम इस सिलसिले में देशभक्ति, राष्ट्रीय ध्वज, देश के लिए बलिदान जैसी बातें सुनेंगे। दिल्ली में गणतंत्र दिवस की परेड भारतीय राष्ट्रवाद का बेजोड़ प्रतीक है। यह प्रतीक सत्ता और शक्ति के साथ विविधता की भावना को भी प्रदर्शित करता है। कई लोग इस विविधता को भारतीय राष्ट्र से जोड़ते हैं। लेकिन अगर हम गहराई में जाने की कोशिश करें तो पाएँगे कि राष्ट्रवाद की सुस्पष्ट और सर्वमान्य परिभाषा करना आसान नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि हमें अपना प्रयास छोड़ देना चाहिए। राष्ट्रवाद का अध्ययन करना इसलिए ज़रूरी है कि वैश्विक मामलों में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

पिछली दो शताब्दियों के दौरान राष्ट्रवाद एक ऐसे सम्मोहक राजनीतिक सिद्धांत के रूप में उभरा है जिसने इतिहास रचने में योगदान किया है। इसने उत्कट निष्ठाओं के साथ-साथ गहरे विद्वेषों को भी प्रेरित किया है। इसने जनता को जोड़ा है तो विभाजित भी किया है। इसने अत्याचारी शासन से मुक्ति दिलाने में मदद की तो इसके साथ यह विरोध, कटुता और युद्धों का कारण भी रहा है। साम्राज्यों और राष्ट्रों के ध्वस्त होने का यह भी एक कारण रहा है। राष्ट्रवादी संघर्षों ने राष्ट्रों और साम्राज्यों की सीमाओं के निर्धारण-पुनर्निर्धारण में योगदान किया है। आज भी दुनिया का एक बड़ा भाग विभिन्न राष्ट्र-राज्यों में बंटा हुआ है। हालाँकि राष्ट्रों की सीमाओं के पुनर्संयोजन की प्रक्रिया अभी खत्म नहीं हुई है और मौजूदा राष्ट्रों के अंदर भी अलगाववादी संघर्ष आम बात है।

राष्ट्रवाद कई चरणों से गुजर चुका है। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में इसने कई छोटी-छोटी रियासतों के एकीकरण से वृहत्तर राष्ट्र-राज्यों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। आज के जर्मनी और इटली का गठन एकीकरण और सुदृढ़ीकरण की इसी प्रक्रिया के ज़रिए हुआ था। लातिनी अमेरिका में बड़ी संख्या में नए राज्य भी स्थापित किए गए थे। राज्य की सीमाओं के सुदृढ़ीकरण के साथ स्थानीय निष्ठाएँ और बोलियाँ भी उत्तरोत्तर राष्ट्रीय निष्ठाओं एवं सर्वमान्य जनभाषाओं के रूप में विकसित हुईं। नए राष्ट्रों के लोगों ने एक नई राजनीतिक पहचान अर्जित की, जो राष्ट्र-राज्य की सदस्यता पर आधारित थी। पिछली शताब्दी में हमने अपने देश को सुदृढ़ीकरण की ऐसी ही प्रक्रिया से गुजरते देखा है।

लेकिन राष्ट्रवाद बड़े-बड़े साम्राज्यों के पतन में हिस्सेदार भी रहा है। यूरोप में बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ऑस्ट्रियाई-हंगेरियाई और रूसी साम्राज्य तथा इनके साथ एशिया और अफ्रीका में ब्रिटिश, फ्रांसीसी, डच और पुर्तगाली साम्राज्य के विघटन के मूल में राष्ट्रवाद ही था। भारत तथा अन्य पूर्व उपनिवेशों के औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्र होने के संघर्ष भी राष्ट्रवादी संघर्ष थे। ये संघर्ष विदेशी नियंत्रण से स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य स्थापित करने की आकांक्षा से प्रेरित थे।

राष्ट्रवाद

राष्ट्रों की सीमाओं के पुनर्निर्धारण की प्रक्रिया अभी जारी है। 1960 के दशक से ही, सीधे तौर पर सुस्थिर राष्ट्र-राज्य भी कुछ समूह या अंचलों द्वारा उठाई गई राष्ट्रवादी माँगों का सामना करते रहे हैं। इन माँगों में पृथक राज्य की माँग भी शामिल है। आज दुनिया के अनेक भागों में हम ऐसे राष्ट्रवादी संघर्षों को देख सकते हैं जो मौजूदा राष्ट्रों के अस्तित्व के लिए खतरे पैदा कर रहे हैं। ऐसे पृथकतावादी आंदोलन अन्य जगहों के साथ-साथ कनाडा के क्यूबेकवासियों, उत्तरी स्पेन के बास्कवासियों, तुर्की और इराक के कुर्दों तथा श्रीलंका के तमिलों द्वारा भी चलाए जा रहे हैं। भारत के कुछ समूह भी राष्ट्रवाद की भाषा बोलते हैं। आज अरबी राष्ट्रवाद में तमाम अरबी देशों को एक अखिल अरब संघ एकताबद्ध करने की उम्मीद पाल सकता है। लेकिन बास्क या कुर्द जैसे पृथकतावादी आंदोलन तो मौजूदा राज्यों के विखंडन के लिए ही संघर्षरत हैं।

हमारे बीच इस सवाल पर सहमति हो सकती है कि दुनिया में राष्ट्रवाद आज भी प्रभावी शक्ति है। लेकिन राष्ट्र या राष्ट्रवाद जैसे शब्दों की परिभाषा के संबंध में किसी सहमति पर पहुँचना बहुत कठिन है। आखिर राष्ट्र क्या है? लोग राष्ट्रों का निर्माण क्यों करते हैं और राष्ट्र क्या करने की तीव्र इच्छा जगाते हैं? लोग अपने राष्ट्र की खातिर त्याग करने और प्राण तक न्यौछावर करने के लिए क्यों तैयार रहते हैं? राष्ट्रत्व (देशभक्ति) के दावे राज्यत्व (राजकीय शक्ति) के दावों से क्यों और कैसे जुड़ जाते हैं? क्या राष्ट्रों को पृथक रहने या राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त है? क्या पृथक राज्यत्व को स्वीकार किए बगैर राष्ट्रवाद के दावे को तुष्ट किया जा सकता है? इस अध्याय में हम इनमें से कुछ मुद्दों की पड़ताल करेंगे।

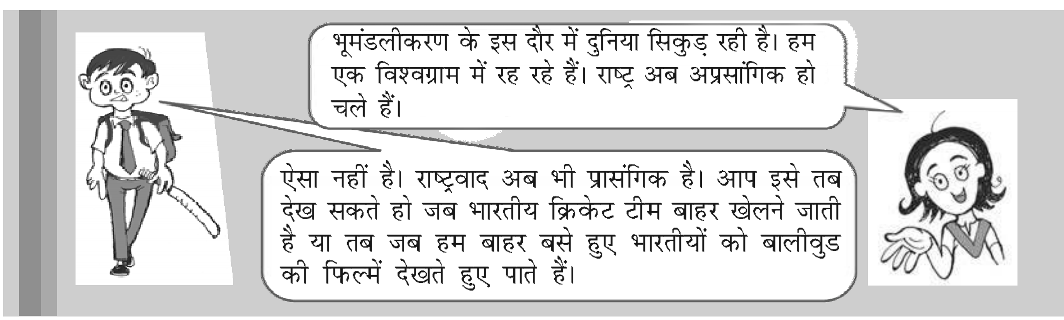

7.2 राष्ट्र और राष्ट्रवाद

राष्ट्र जनता का कोई आकस्मिक समूह नहीं है। लेकिन यह मानव समाज में पाए जाने वाले अन्य समूहों अथवा समुदायों से अलग है। यह परिवार से भी अलग है। परिवार तो प्रत्यक्ष संबंधों पर आधारित होता है जिसका प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्यों के व्यक्तित्व और चरित्र के बारे में व्यक्तिगत जानकारी रखता है। यह जनजातीय, जातीय और अन्य सगोत्रीय समूहों से भी अलग है। इन समूहों में विवाह और वंश परंपरा सदस्यों को आपस में जोड़ती हैं। इसीलिए यदि हम सभी सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से नहीं भी जानते हों तो भी ज़रूरत पड़ने पर हम उन सूत्रों

को ढूँढ निकाल सकते हैं जो हमें आपस में जोड़ते हैं। लेकिन राष्ट्र के सदस्य के रूप में हम अपने राष्ट्र के अधिकतर सदस्यों को सीधे तौर पर न कभी जान पाते हैं और न ही उनके साथ वंशानुगत नाता जोड़ने की ज़रूरत पड़ती है। फिर भी राष्ट्रों का वजूद है, लोग उनमें रहते हैं और उनका आदर करते हैं।

आमतौर से यह माना जाता है कि राष्ट्रों का निर्माण ऐसे समूह द्वारा किया जाता है जो कुल या भाषा अथवा धर्म या फिर जातीयता जैसी कुछेक निश्चित पहचान का सहभागी होता है। लेकिन ऐसे निश्चित विशिष्ट गुण वास्तव में हैं ही नहीं जो सभी राष्ट्रों में समान रूप से मौजूद हों। कई राष्ट्रों की अपनी कोई एक सामान्य भाषा नहीं है। कनाडा का उदाहरण सामने है। कनाडा में अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी भाषाभाषी लोग साथ रहते हैं। भारत में भी अनेक भाषाएँ हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में और भिन्न-भिन्न समुदायों द्वारा बोली जाती हैं। बहुत से राष्ट्रों में उनको जोड़ने वाला कोई सामान्य धर्म भी नहीं है। नस्ल या कुल जैसी अन्य विशिष्टताओं के लिए भी यही कहा जा सकता है।

तब वह क्या है, जो राष्ट्र का निर्माण करता है? राष्ट्र बहुत हद तक एक 'काल्पनिक' समुदाय होता है, जो अपने सदस्यों के सामूहिक विश्वास, आकांक्षाओं और कल्पनाओं के सहारे एक सूत्र में बंधा होता है। यह कुछ खास मान्यताओं पर आधारित होता है जिन्हें लोग उस समग्र समुदाय के लिए गढ़ते हैं, जिससे वे अपनी पहचान कायम करते हैं। आइए, हम राष्ट्र के बारे में लोगों की कुछ मान्यताओं को पहचानने और समझने की कोशिश करें।

आओ कुछ करके सीखे

अपनी भाषा में देशभक्ति के किसी गीत की खोज करो। इस गीत में राष्ट्र को किस तरह दिखाया गया है। अपनी भाषा में देशभक्ति की किसी फिल्म की खोज करो और उसे देखो। इस फिल्म में देशभक्ति को किस तरह दिखाया गया है और इसकी जटिलताओं को किस तरह हल किया है।

साझे विश्वास

पहला, राष्ट्र विश्वास के ज़रिए बनता है। राष्ट्र पहाड़, नदी या भवनों की तरह नहीं होते, जिन्हें हम देख सकते हैं और जिनका स्पर्श महसूस कर सकते हैं। वे ऐसी चीज़ें भी नहीं हैं जिनका लोगों के विश्वासों से स्वतंत्र अस्तित्व हो। किसी समाज के लोगों को राष्ट्र की संज्ञा देना उनके शारीरिक विशेषताओं या आचरण पर टिप्पणी करना नहीं है। यह समूह के भविष्य के लिए सामूहिक पहचान और दृष्टि का प्रमाण है, जो स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व का आकांक्षी है। इस मायने में राष्ट्र की तुलना किसी टीम से की जा सकती है। जब हम टीम की बात करते हैं तो हमारा मतलब लोगों के ऐसे समूह से है, जो एक साथ काम करते या खेलते हों और इससे भी ज्यादा ज़रूरी है कि वे स्वयं को एकीकृत

राष्ट्रवाद

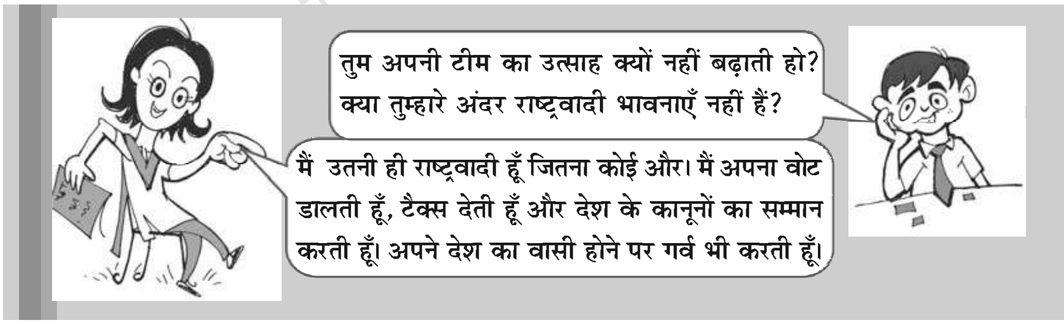

समूह मानते हों। अगर वे अपने बारे में इस तरह नहीं सोचते तो एक टीम की उनकी हैसियत जाती रहेगी और वे खेल खेलने या काम करने वाले महज अलग-अलग व्यक्ति रह जाएँगे। एक राष्ट्र का अस्तित्व तभी कायम रहता है जब उसके सदस्यों को यह विश्वास हो कि वे एक-दूसरे के साथ हैं।

इतिहास

दूसरा, जो लोग अपने को एक राष्ट्र मानते हैं उनके भीतर अपने बारे में बहुधा स्थायी ऐतिहासिक पहचान की भावना होती है। यानी राष्ट्र खुद को इस रूप में देखते हैं जैसे वे बीते अतीत के साथ-साथ आगत भविष्य को समेटे हुए हों। वे देश की स्थायी पहचान का खाका प्रस्तुत करने के लिए साझी स्मृतियों, किंवदंतियों और ऐतिहासिक अभिलेखों की रचना के ज़रिये अपने लिए इतिहासबोध निर्मित करते हैं। इसी प्रकार भारत के राष्ट्रवादियों ने यह दावा करने के लिए कि एक सभ्यता के बतौर भारत का लंबा और अटूट इतिहास रहा है और यह सभ्यतामूलक निरंतरता और एकता भारतीय राष्ट्र की बुनियाद है, देश की प्राचीन सभ्यता और सांस्कृतिक विरासत तथा अन्य उपलब्धियों का साक्ष्य प्रस्तुत किया। उदाहरणस्वरूप नेहरू ने अपनी किताब 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में लिखा है – ''हालाँकि बाहरी रूप में लोगों में विविधता और अनगिनत विभिन्नताएँ थीं, लेकिन हर जगह एकात्मकता की वह जबर्दस्त छाप थी जिसने हमें युगों तक साथ जोड़े रखा, चाहे हमें जो भी राजनीतिक भविष्य या दुर्भाग्य झेलना पड़ा हो।

भूक्षेत्र

तीसरा, बहुत सारे राष्ट्रों की पहचान एक खास भौगोलिक क्षेत्र से जुड़ी हुई है। किसी खास भूक्षेत्र पर लंबे समय तक साथ-साथ रहना और उससे जुड़ी साझे अतीत की यादें लोगों को एक सामूहिक पहचान का बोध देती हैं। ये उन्हें एक होने का अहसास भी देती है। इसीलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि जो लोग स्वयं को एक राष्ट्र के रूप में देखते हैं एक गृहभूमि की बात करते हैं। ये लोग जिस भूक्षेत्र पर अपना अधिकार जमाते हैं, जिस जगह रहते हैं, उस पर अपना दावा पेश करते हैं और उसे बहुत महत्त्व देते हैं। राष्ट्र अपनी-अपनी गृहभूमि का

विभिन्न तरीकों से बखान करते हैं। जैसे, कोई इसे मातृभूमि या पितृभूमि कहता है तो कोई पवित्र भूमि। उदाहरण के लिए, यहूदी लोगों ने अपने इतिहास में ज़्यादातर समय दुनिया के विभिन्न हिस्सों में बिखरे-फैले रहने के बावजूद, हमेशा दावा किया कि उनका मूल गृह-स्थल फिलीस्तीन, उनका 'स्वर्ग', है। भारतीय राष्ट्र की पहचान भारतीय उपमहाद्वीप की नदियों, पर्वतों और अंचलों से है। चूँकि एक ही भूक्षेत्र पर एक से अधिक समूह का दावा हो सकता है, लिहाजा गृहभूमि की आकांक्षा दुनिया भर में संघर्ष का एक बड़ा कारण रही है।

साझे राजनीतिक आदर्श

चौथा, हालाँकि अपना भूक्षेत्र और साझी ऐतिहासिक पहचान लोगों में एक होने का बोध पैदा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं लेकिन भविष्य के बारे में साझा नज़रिया और अपना स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व बनाने की सामूहिक चाहत ही वह मूल बात है, जो राष्ट्र को बाकी समूहों से अलग करती हैं। राष्ट्र के सदस्यों की इस बारे में एक साझा दृष्टि होती है कि वे किस तरह का राज्य बनाना चाहते हैं। बाकी बातों के अलावा वे लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और उदारवाद जैसे मूल्यों और सिद्धांतों को स्वीकार करते हैं। असल में ये ही वे शर्तें हैं जिसके आधार पर वे साथ-साथ आना और रहना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में यह विचार राष्ट्र के रूप में उनकी राजनीतिक पहचान को बताते हैं।

लोकतंत्र में कुछ राजनीतिक मूल्यों और आदर्शों के लिए साझी प्रतिबद्धता ही किसी राजनीतिक समुदाय या राष्ट्र का सर्वाधिक वांछित आधार होता है। इसके अंतर्गत राजनीतिक समुदाय के सदस्य कुछ दायित्वों से बंधे होते हैं। ये दायित्व सभी लोगों के नागरिकों के रूप में अधिकारों को पहचान लेने से पैदा होते हैं। अगर राष्ट्र के नागरिक अपने सह नागरिकों के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को जान और मान लेते हैं तो इससे राष्ट्र मज़बूत ही होता है। हम यहाँ तक कह सकते हैं आपसी जिम्मेदारियों के इस परिप्रेक्ष्य को मान लेना राष्ट्र के प्रति वफादारी की सबसे कड़ी परीक्षा है।

साझी राजनीतिक पहचान

बहुत से लोगों का मानना है कि हम जैसा राज्य या समाज बनाना चाहते हैं उसके बारे में साझी राजनीतिक दृष्टि व्यक्तियों को एक राष्ट्र के रूप में बांधने के लिए पर्याप्त नहीं होती। इसके स्थान पर वह एक समान भाषा या जातीय वंश परंपरा जैसी साझी सांस्कृतिक पहचान चाहते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि एक ही भाषा बोलना आपसी संवाद को काफी आसान बना देता है। समान धर्म होने पर बहुत सारे विश्वास और सामाजिक रीति-रिवाज़ साझे हो जाते हैं। एक जैसे त्यौहार मनाना, एक जैसे मौकों पर छुट्टियाँ चाहना और एक जैसे प्रतीकों को धारण करना लोगों को करीब ला सकता है, लेकिन साथ ही यह उन मूल्यों के लिए खतरा भी उत्पन्न कर सकता है जिन्हें हम लोकतंत्र में महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

राष्ट्रवाद

इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि दुनिया के सभी बड़े धर्म अंदरूनी तौर से विविधता से भरे हुए हैं। वे अपने समुदाय के अंदर चलने वाले संवाद के कारण ही बने और बढ़े हैं। परिणामस्वरूप धर्म के अंदर बहुत से पंथ बन जाते हैं और धार्मिक ग्रंथों और नियमों की उनकी व्याख्याएँ काफी अलग-अलग होती हैं। अगर हम इन विभिन्नताओं की अवहेलना करें और एक समान धर्म के आधार पर एक पहचान स्थापित कर दें तो आशंका है कि हम बहुत ही वर्चस्ववादी और दमनकारी समाज का निर्माण कर दें।

दूसरा कारण यह है कि अधिकतर समाज सांस्कृतिक रूप से विविधता से भरे हैं। एक ही भूक्षेत्र में विभिन्न धर्म और भाषाओं के लोग साथ-साथ रहते हैं। किसी राज्य की सदस्यता की शर्त के रूप में किसी खास धार्मिक या भाषायी पहचान को आरोपित कर देने से कुछ समूह निश्चित रूप से शामिल होने से रह जाएँगे। इससे शामिल नहीं किए गए समूह की धार्मिक स्वतंत्रता बाधित होगी या राष्ट्रीय भाषा नहीं बोलने वाले समूहों की हानि होगी। दोनों स्थितियों में 'समान बर्ताव और सबके लिए स्वतंत्रता' के उस आदर्श में भारी कटौती होगी, जिसे हम लोकतंत्र में अमूल्य मानते हैं। इन्हीं कारणों से यह बेहतर होगा कि राष्ट्र की कल्पना राजनीतिक शब्दावली में की जाए, न कि सांस्कृतिक पदों में। इसका मतलब यह है कि लोकतंत्र में किसी खास धर्म, नस्ल या भाषा से संबद्धता की जगह एक मूल्य समूह के प्रति निष्ठा की ज़रूरत होती है। इस मूल्य-समूह को देश के संविधान में भी दर्ज़ किया जा सकता है।

ऊपर कुछ स्थितियों की पहचान की गई है जिनके ज़रिए राष्ट्र अपनी सामूहिक पहचान को व्यक्त करते हैं। हमने यह भी देखा कि क्यों लोकतांत्रिक राज्य इस पहचान को साझे राजनीतिक आदर्शों के आधार पर गढ़ते हैं। लेकिन एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न अनुत्तरित रह गया है कि आखिर लोग खुद को राष्ट्र के रूप में क्यों निरूपित करते हैं? विभिन्न राष्ट्रों की कुछ आकांक्षाएँ क्या हैं? आगे के दो खंडों में हम इस प्रश्नों पर विचार करने की कोशिश करेंगे।

7.3 राष्ट्रीय आत्म-निर्णय

बाकी सामाजिक समूहों से अलग राष्ट्र अपना शासन अपने आप करने और अपने भविष्य को तय करने का अधिकार चाहते हैं। दूसरे शब्दों में वे आत्म-निर्णय का अधिकार माँगते हैं। आत्म-निर्णय के अपने दावे में राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय समुदाय से माँग करता है कि उसके पृथक राजनीतिक इकाई या राज्य के दर्ज़े को मान्यता और स्वीकार्यता दी जाए। अक्सर ऐसी माँग उन लोगों की ओर से आती है जो एक लंबे समय से किसी निश्चित भू-भाग पर साथ-साथ रहते आए हों और जिनमें साझी पहचान का बोध हो। कुछ मामलों में आत्म-निर्णय के ऐसे दावे एक स्वतंत्र राज्य बनाने की उस इच्छा से भी जुड़े होते हैं। इन दावों का संबंध किसी समूह की संस्कृति की संरक्षा से होता है।

बास्क में आत्म-निर्णय की माँग

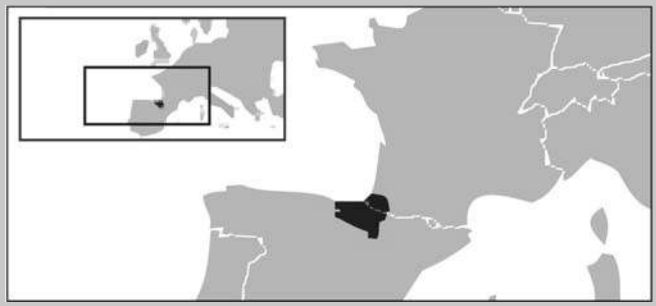

राष्ट्रीय आत्म-निर्णय की माँग दुनिया के विभिन्न भागों में उठ रही है। आइए, ऐसे एक मामले पर नजर डालें। बास्क स्पेन का एक पहाड़ी और समृद्ध क्षेत्र है। इस क्षेत्र को स्पेनी सरकार ने स्पेन राज्यसंघ के अंतर्गत 'स्वायत्त' क्षेत्र का दर्जा दे रखा है, लेकिन बास्क राष्ट्रवादी आंदोलन के नेतागण इस स्वायत्तता से संतुष्ट नहीं हैं। वे चाहते हैं कि बास्क स्पेन से अलग होकर एक स्वतंत्र देश बन जाये। इस आंदोलन के समर्थकों ने अपनी माँग पर ज़ोर डालने के लिए संवैधानिक और हाल तक हिंसक तरीकों का इस्तेमाल किया है।

बास्क राष्ट्रवादियों का कहना है कि उनकी संस्कृति स्पेनी संस्कृति से बहुत भिन्न है। उनकी अपनी भाषा है, जो स्पेनी भाषा से बिल्कुल नहीं मिलती है। हालाँकि आज बास्क के मात्र एक-तिहाई लोग उस भाषा को समझ पाते हैं। बास्क क्षेत्र की पहाड़ी भू-संरचना उसे शेष स्पेन से भौगोलिक तौर पर अलग करती है। रोमन काल से अब तक बास्क क्षेत्र ने स्पेनी शासकों के समक्ष अपनी स्वायत्तता का कभी समर्पण नहीं किया। उसकी न्यायिक, प्रशासनिक एवं वित्तीय प्रणालियाँ उसकी अपनी विशिष्ट व्यवस्था के ज़रिये संचालित होती थीं।

आधुनिक बास्क राष्ट्रवादी आंदोलन की शुरुआत तब हुई जब उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में स्पेनी शासकों ने उसकी विशिष्ट राजनीतिक-प्रशासनिक व्यवस्था को समाप्त करने की कोशिश की। बीसवीं सदी में स्पेनी तानाशाह फ्रैंको ने इस स्वायत्तता में और कटौती कर दी। उसने बास्क भाषा को सार्वजनिक स्थानों, यहाँ तक कि घर में भी बोलने पर पाबंदी लगा दी थी। ये दमनकारी कदम अब वापस लिये जा चुके हैं। लेकिन बास्क आंदोलनकारियों का स्पेनी शासन के प्रति संदेह और क्षेत्र में बाहरी लोगों के प्रवेश का भय बरकरार है। उनके विरोधियों का कहना है कि बास्क अलगाववादी एक ऐसे मुद्दे का राजनीतिक फायदा उठाने की कोशिश कर रहे हैं जिसका समाधान हो चुका है।

क्या आपके विचार में बास्क राष्ट्रवादियों की अलग राष्ट्र की माँग जायज है? क्या बास्क एक राष्ट्र है? इस सवाल का उत्तर देने के पहले आप और किन बातों की जानकारी चाहेंगे?

क्या आप दुनिया के दूसरे भागों के ऐसे उदाहरणों के बारे में विचार कर सकते हैं? क्या आप अपने देश के ऐसे क्षेत्रों और समूहों के बारे में विचार कर सकते हैं जहाँ, इस तरह की माँग की जा रही है?

स्रोत: www.wikipedia.org

राष्ट्रवाद

दूसरी तरह के बहुत से दावे उन्नीसवीं सदी के यूरोप में सामने आए उस समय 'एक संस्कृति - एक राज्य' की मान्यता ने ज़ोर पकड़ा। परिणामस्वरूप पहले विश्वयुद्ध के बाद राज्यों की पुनर्व्यवस्था में 'एक संस्कृति-एक राज्य' के विचार को आजमाया गया। वर्साय की संधि से बहुत-से छोटे और नव स्वतंत्र राज्यों का गठन हुआ लेकिन उस समय उठायी जा रही आत्म-निर्णय की सभी माँगों को संतुष्ट करना वास्तव में असंभव था। इसके अलावा 'एक संस्कृति-एक राज्य' की माँगों को संतुष्ट करने से राज्यों की सीमाओं में बदलाव हुए। इससे सीमाओं के एक ओर से दूसरी ओर बहुत बड़ी जनसंख्या का विस्थापन हुआ। इसके परिणामस्वरूप लाखों लोग अपने घरों से उजड़ गए और उस जगह से उन्हें बाहर धकेल दिया गया जहाँ पीढ़ियों से उनका घर था। बहुत सारे लोग सांप्रदायिक हिंसा के भी शिकार बने।

अलग-अलग सांस्कृतिक समुदायों को अलग-अलग राष्ट्र-राज्य मिले- इसे ध्यान में रखकर सीमाओं को बदला गया। इस कोशिश के कारण मानव जाति को भारी किमत चुकानी पड़ी। इस प्रयास के बावजूद यह सुनिश्चित करना संभव नहीं हो सका कि नवगठित राज्यों में केवल एक ही नस्ल के लोग रहें। वास्तव में अधिकतर राज्यों की सीमाओं के अंदर एक से अधिक नस्ल और संस्कृति के लोग रहते थे। ये छोटे-छोटे समुदाय राज्य के अंदर अल्पसंख्यक थे और अक्सर नुकसानदेह स्थितियों में रहते थे। इस विकास का सकारात्मक पहलू यह था कि उन बहुत सारे राष्ट्रवादी समूहों को राजनीतिक मान्यता प्रदान की गयी जो स्वयं को एक अलग राष्ट्र के रूप में देखते थे और अपने भविष्य को तय करने तथा अपना शासन स्वयं चलाना चाहते थे। लेकिन राज्यों के भीतर अल्पसंख्यक समुदायों की समस्या ज्यों की त्यों बनी रही।

जब एशिया एवं अफ्रीका औपनिवेशिक प्रभुत्व के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे, तब राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों ने राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के अधिकार की भी घोषणा की थी। राष्ट्रीय आंदोलनों का मानना था कि राजनीतिक स्वाधीनता राष्ट्रीय समूहों को सम्मान एवं मान्यता प्रदान करेगी और साथ ही वहाँ के लोगों के सामूहिक हितों की रक्षा भी करेगी। अधिकांश राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन राष्ट्र के लिए न्याय, अधिकार और समृद्धि हासिल करने के लक्ष्य से प्रेरित थे। हालाँकि यहाँ भी प्रत्येक सांस्कृतिक समूह जिनमें से कुछ पृथक राष्ट्र होने का दावा करते थे- के लिए राजनीतिक स्वाधीनता तथा राज्यसत्ता सुनिश्चित करना लगभग असंभव साबित हुआ। इस क्षेत्र के अनेक देश आबादी के देशांतरण, सीमाओं पर युद्ध और हिंसा की चपेट में आते रहे। इस प्रकार, हम उन राष्ट्र-राज्यों को विरोधाभासी स्थिति में पाते हैं जिन्होंने संघर्षों की बदौलत स्वाधीनता प्राप्त की, लेकिन अब वे अपने भू-क्षेत्रों में राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग करने वाले अल्पसंख्यक समूहों का विरोध कर रहे हैं।

वस्तुत: आज दुनिया की सारी राज्यसत्ताएँ इस दुविधा में फँसी हैं कि आत्म-निर्णय के आंदोलनों से कैसे निपटा जाए और इसने राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के अधिकार पर सवाल खड़े कर दिये हैं। बहुत-से लोग यह महसूस करने लगे हैं कि समाधान नए राज्यों के गठन में नहीं वरन् वर्तमान राज्यों को अधिक लोकतांत्रिक और समतामूलक बनाने में है। समाधान यह

सुनिश्चित करने में है कि अलग-अलग सांस्कृतिक और नस्लीय पहचानों के लोग देश में समान नागरिक और साथियों की तरह सह-अस्तित्वपूर्वक रह सकें। यह न केवल आत्म-निर्णय के नए दावों के उभार से पैदा होने वाली समस्याओं के समाधान के लिए वरन् मज़बूत और एकताबद्ध राज्य बनाने के लिए ज़रूरी होगा। जो राष्ट्र-राज्य अपने शासन में अल्पसंख्यक समूहों के अधिकारों और सांस्कृतिक पहचान की कद्र नहीं करता उसके लिए अपने सदस्यों की निष्ठा प्राप्त करना मुश्किल होता है।

7.4 राष्ट्रवाद और बहुलवाद

'एक संस्कृति-एक राज्य' के विचार को त्यागते ही यह ज़रूरी हो जाता है कि ऐसे तरीकों के बारे में सोचा जाए जिसमें विभिन्न संस्कृतियाँ और समुदाय एक ही देश में फल-फूल सकें। इस लक्ष्य को पाने के लिए ही अनेक लोकतांत्रिक देशों ने सांस्कृतिक रूप से अल्पसंख्यक समुदायों की पहचान को स्वीकार करने और संरक्षित करने के उपायों को शुरू किया है। भारतीय संविधान में धार्मिक, भाषायी और सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों की संरक्षा के लिए विस्तृत प्रावधान हैं।

विभिन्न देशों में समूहों को जो अधिकार प्रदान किये गये हैं, उनमें शामिल हैं - अल्पसंख्यक समूहों एवं उनके सदस्यों की भाषा, संस्कृति एवं धर्म के लिए संवैधानिक संरक्षा के अधिकार। कुछ मामलों में इन समूहों को विधायी संस्थाओं और अन्य राजकीय संस्थाओं में प्रतिनिधित्व का अधिकार भी होता है। इन अधिकारों को इस आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है कि ये अधिकार इन समूहों के सदस्यों के लिए कानून द्वारा समान व्यवहार एवं सुरक्षा के साथ ही समूह की सांस्कृतिक पहचान के लिए भी सुरक्षा का प्रावधान करते हैं। इसके अलावा, इन समूहों को राष्ट्रीय समुदाय के एक अंग के बतौर भी मान्यता देनी होती है। इसका मतलब यह कि राष्ट्रीय पहचान को समावेशी रीति से परिभाषित करना होगा जो राष्ट्र-राज्य के तमाम सदस्यों की महत्ता और अद्वितीय योगदान को मान्यता दे सके।

हालाँकि यह उम्मीद की जाती है कि समूहों को मान्यता और संरक्षा प्रदान करने से उनकी आकांक्षाएँ संतुष्ट होंगी, फिर भी, हो सकता है कि कुछ समूह पृथक राज्य की माँग पर अडिग रहें। यह विरोधाभासी भी प्रतीत हो सकता है कि जहाँ दुनिया में भूमंडलीकरण का दौर ज़ारी है वहीं राष्ट्रीय आकांक्षाएँ अभी भी बहुत सारे समूह और समुदायों को उद्वेलित कर रही हैं। ऐसी माँगों से लोकतांत्रिक ढंग से निपटने के लिए यह ज़रूरी है कि संबंधित देश अत्यंत उदारता एवं दक्षता का परिचय दें।

कुल मिलाकर, राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के अधिकार को आमतौर पर इस रूप में समझा जाता था कि इसमें राष्ट्रीयताओं के लिए स्वतंत्र राज्य का अधिकार भी सम्मिलित है। लेकिन यह नामुमकिन है कि प्रत्येक राष्ट्रीय समूह को स्वतंत्र राज्य प्रदान किया जाए। साथ ही, यह संभवतः अवांछनीय भी होगा। यह ऐसे राज्यों के गठन की ओर ले जा सकता है जो आर्थिक और राजनीतिक क्षमता की दृष्टि से बेहद छोटे हों और इससे अल्पसंख्यक समूहों की समस्याएँ

राष्ट्रवाद

आओ कुछ करके सीखे

भारत और भारत से बाहर आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग कर रहे विभिन्न समूहों से संबंधित समाचार पत्र-पत्रिकाओं की कतरनों को इकट्ठा करो। निम्न मामलों पर अपनी राय बनाओ।

- ☐ इन माँगों के पीछे क्या कारण हैं?
- ☐ इनके संघर्ष की प्रकृति क्या है?
- ☐ क्या उनकी माँग जायज है?
- ☐ आप क्या सोचते हैं? संभव समाधान क्या हो सकता है?

और बढ़ें। इस अधिकार की अब यह पुनर्व्याख्या की जाती है – इसका मतलब है राज्य के भीतर किसी राष्ट्रीयता के लिए कुछ लोकतांत्रिक अधिकारों की स्वीकृति।

हम ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जो समूहों की पहचान को मान्यता देने के महत्त्व के प्रति काफी सचेत है। आज हम ऐसे बहुत से संघर्षों के साक्षी हैं जो समूह की पहचान की मान्यता के लिए चल रहे हैं तथा राष्ट्रवाद की भाषा का इस्तेमाल कर रहे हैं। इस बात की ज़रूरत है कि हम राष्ट्रीय पहचान के उनके दावों की सत्यता को स्वीकार करें लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि हम राष्ट्रवाद के असहिष्णु और एकजातीय स्वरूपों के साथ कोई सहानुभूति बरतें।

राष्ट्रवाद पर रवींद्रनाथ ठाकुर की समालोचना

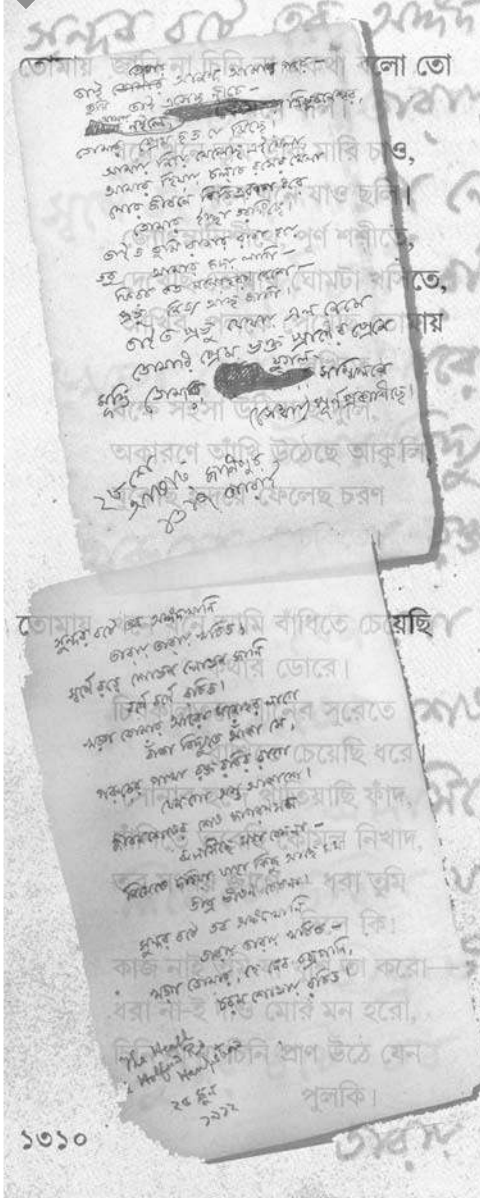

"राष्ट्रवाद हमारा अंतिम आध्यात्मिक मंजिल नहीं हो सकता। मेरी शरणस्थली तो मानवता है। मैं हीरों की कीमत पर शीशा नहीं खरीदूँगा और जब तक मैं जीवित हूँ देशभक्ति को मानवता पर कदापि विजयी नहीं होने दूँगा।" यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था। वे औपनिवेशिक शासन के विरोधी थे और भारत की स्वाधीनता के अधिकार का दावा करते थे। वे महसूस करते थे कि उपनिवेशों के ब्रितानी प्रशासन में 'मानवीय संबंधों की गरिमा बरकरार रखने' की गुंजाइश नहीं है। यह एक ऐसा विचार है जिसे ब्रितानी सभ्यता में भी स्थान मिला है। टैगोर पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध करने और पश्चिमी सभ्यता को खारिज़ करने के बीच फ़र्क करते थे। भारतीयों को अपनी संस्कृति और विरासत में गहरी आस्था होनी ही चाहिए लेकिन उन्हें बाहरी दुनिया से मुक्त भाव से सीखने और लाभान्वित होने का प्रतिरोध नहीं करना चाहिए।

टैगोर जिसे 'देशभक्ति' कहते थे, उसकी समालोचना उनके लेखन का स्थायी विषय था। वे देश के स्वाधीनता आंदोलन में मौजूद संकीर्ण राष्ट्रवाद के कटु आलोचक थे। उन्हें भय था कि तथाकथित भारतीय परंपरा के पक्ष में पश्चिम की खारिज़ी का विचार यहीं तक सीमित रहने वाला नहीं है। यह अपने देश में मौजूद ईसाई, यहूदी, पारसी और इस्लाम समेत तमाम विदेशी प्रभावों के खिलाफ आसानी से आक्रामक भी हो सकता है।

राष्ट्रवाद

? प्रश्नावली

1. राष्ट्र किस प्रकार से बाकी सामूहिक संबद्धताओं से अलग है?
2. राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के अधिकार से आप क्या समझते हैं? किस प्रकार यह विचार राष्ट्र-राज्यों के निर्माण और उनको मिल रही चुनौती में परिणत होता है?
3. हम देख चुके हैं कि राष्ट्रवाद लोगों को जोड़ भी सकता है और तोड़ भी सकता है। उन्हें मुक्त कर सकता है और उनमें कटुता और संघर्ष भी पैदा कर सकता है। उदाहरणों के साथ उत्तर दीजिए।
4. वंश, भाषा, धर्म या नस्ल में से कोई भी पूरे विश्व में राष्ट्रवाद के लिए साझा कारण होने का दावा नहीं कर सकता। टिप्पणी कीजिए।
5. राष्ट्रवादी भावनाओं को प्रेरित करने वाले कारकों पर सोदाहरण रोशनी डालिए।
6. संघर्षरत राष्ट्रवादी आकांक्षाओं के साथ बर्ताव करने में तानाशाही की अपेक्षा लोकतंत्र अधिक समर्थ होता है। कैसे?
7. आपकी राय में राष्ट्रवाद की सीमाएँ क्या हैं?

अध्याय 8

धर्मनिरपेक्षता

परिचय

जब विभिन्न संस्कृतियाँ और समुदाय एक ही देश में साथ-साथ रहते हों, तो लोकतांत्रिक राज्य उनमें से प्रत्येक के लिए समानता की गारंटी कैसे करे? पिछले अध्याय में यही सवाल सामने आया था। इस अध्याय में हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि इस सवाल का जवाब देने में धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का इस्तेमाल कैसे किया जा सकता है। भारत में धर्मनिरपेक्षता का विचार सार्वजनिक वाद विवादों और परिचर्चाओं में सदैव मौजूद रहा है। फिर भी, यहाँ धर्मनिरपेक्षता की स्थिति को लेकर कुछ मामले काफी पेचीदा हैं। एक ओर तो आमतौर पर हर राजनेता इसकी शपथ लेता है, हर राजनीतिक दल धर्मनिरपेक्ष होने की घोषणा करता है, दूसरी ओर, तमाम किस्म की चिंताएँ और संदेह धर्मनिरपेक्षता को घेरे रहते हैं। पुरोहितों और धार्मिक राष्ट्रवादियों द्वारा ही नहीं, कुछ राजनीतिज्ञों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और यहाँ तक कि शिक्षाविदों द्वारा भी धर्मनिरपेक्षता का विरोध किया जाता है।
इस अध्याय में हम नीचे लिखे कुछ सवालों को पूछ कर इस जारी विमर्श में शामिल होंगे-

- क्या यह उन समाजों के लिए उपयुक्त है जिनमें धर्म का आज भी लोगों के व्यक्तिगत जीवन पर गहरा असर है।
- क्या धर्मनिरपेक्षता भारतीय मिट्टी में रोपा गया एक पश्चिमी पौधा है?
- क्या धर्मनिरपेक्षता में पक्षपात के चिह्न हैं।
- क्या इससे अल्पसंख्यकों का 'तुष्टीकरण' होता है।
- क्या यह धर्मविरोधी है।

इस अध्याय के अंत में आप भारत जैसे लोकतांत्रिक समाज में धर्मनिरपेक्षता के महत्त्व को जानने-समझने और भारतीय धर्मनिरपेक्षता की विशिष्टता के बारे में कुछ सीखने में समर्थ हो सकेंगे।

धर्मनिरपेक्षता

8.1 धर्मनिरपेक्षता क्या है?

यद्यपि यहूदियों को समस्त यूरोप में सदियों तक भेदभाव झेलना पड़ा था मगर वर्तमान इजरायल राष्ट्र में ईसाई और मुसलमान दोनों ही अरबी अल्पसंख्यक हैं। वे उन राजनीतिक और आर्थिक लाभों से वंचित हैं जो यहूदी नागरिकों को मिले हुए हैं। यूरोप के अनेक हिस्सों में गैर-ईसाइयों के प्रति भेदभाव के सूक्ष्म रूप अभी भी बरकरार हैं। पड़ोसी देश, पाकिस्तान और बांग्लादेश में भी धार्मिक अल्पसंख्यकों की स्थिति ने लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा है। इस तरह के उदाहरण हमें समकालीन विश्व में धर्मनिरपेक्षता के महत्त्व की याद दिलाते हैं।

धर्मों के बीच वर्चस्ववाद

हमारे अपने देश में संविधान घोषणा करता है कि हर भारतीय नागरिक को देश के किसी भी भाग में आज़ादी और प्रतिष्ठा के साथ रहने का अधिकार है। मगर वास्तव में वर्जना और भेदभाव के अनेक रूप अभी भी बरकरार हैं। नीचे दिए गए तीन उदाहरणों पर गौर करें-

- 1984 में दिल्ली और देश के बाकी हिस्सों में लगभग चार हज़ार सिख मारे गए। पीड़ितों के परिवारजनों का मानना है कि दोषियों को आजतक सजा नहीं मिली है।
- हज़ारों कश्मीरी पंडितों को घाटी में अपना घर छोड़ने के लिए विवश किया गया। वे दो दशकों के बाद भी अपने घर नहीं लौट सके हैं।
- सन 2002 में गुजरात में लगभग 2000 मुसलमान मारे गए। इन परिवारों के जीवित बचे हुए बहुत से सदस्य अभी भी अपने गाँव वापस नहीं जा सके हैं, जहाँ से वे उजाड़ दिये गये थे।

इन तमाम उदाहरणों में क्या बात सामान्य है? इन सभी उदाहरणों में किसी न किसी रूप में भेदभाव है। हर मामले में किसी एक धार्मिक समुदाय के लोगों को लक्ष्य किया गया और उनकी धार्मिक पहचान के कारण सताया गया। दूसरे शब्दों में नागरिकों के एक समूह को बुनियादी आज़ादी से वंचित किया गया। यह भी कहा जा सकता है कि ये सारे उदाहरण अंतर-धार्मिक वर्चस्व और एक धार्मिक समुदाय द्वारा दूसरे समुदायों के उत्पीड़न के मामले हैं।

धर्मनिरपेक्षता को सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख रूप से ऐसा सिद्धांत समझा जाना चाहिए जो अंतर-धार्मिक वर्चस्व का विरोध करता है। हालाँकि यह धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के महत्त्वपूर्ण पहलुओं में से केवल एक है। धर्मनिरपेक्षता का इतना ही महत्त्वपूर्ण दूसरा पहलू

अंत:धार्मिक वर्चस्व यानी धर्म के अंदर छुपे वर्चस्व का विरोध करना है। आइए, हम इस मुद्दे पर और विचार करते हैं।

धर्म के अंदर वर्चस्व

कुछ लोगों का मानना है कि धर्म महज 'जनसमुदाय के लिए अफीम' है और जिस दिन सभी लोगों की बुनियादी ज़रूरतें पूरी हो जाएँगी और वे खुशहाल तथा संतुष्ट जीवन-यापन करने लगेंगे, धर्म विलुप्त हो जाएगा। ऐसा विचार मानव की क्षमता के बारे में अतिरंजित बोध से पैदा होता है। यह संभावना से परे है कि मनुष्य कभी भी प्रकृति को पूरी तरह जान पाने और इसे नियंत्रित करने में समर्थ हो जाएगा। हम अपना जीवनकाल तो बढ़ा सकते हैं मगर अमर कभी नहीं हो सकेंगे। न तो रोगों का कभी पूरी तरह उन्मूलन हो सकता है और न हम अपनी जिंदगी में दुर्घटना और भाग्य के तत्त्व से छुटकारा ही पा सकते हैं। अलगाव और हानि मानव-स्थिति के अभिन्न अंग हैं। हमारे अधिकांश दुख-दर्द मानव निर्मित हैं इसलिए उनका अंत तो हो सकता है लेकिन कुछ कष्ट मानव निर्मित नहीं हैं। धर्म, कला और दर्शन ऐसे दुख-दर्दों के सटीक प्रत्युत्तर हैं। धर्मनिरपेक्षता भी इसे स्वीकार करती है और इसीलिए वह धर्मविरोधी नहीं हैं।

बहरहाल, जिन समस्याओं ने गहरे जड़ जमा रखा है, उनमें धर्म का भी कुछ योगदान है। उदाहरण के लिए किसी ऐसे धर्म के बारे में सोचना भी मुश्किल है, जो पुरुष और स्त्री को समान नजर से देखता हो। हिंदू धर्म में कुछ तबके भेदभाव से स्थायी तौर पर पीड़ित रहे हैं। मसलन, दलितों को हिंदू मंदिरों में प्रवेश से हमेशा रोका जाता रहा है। देश के कुछ हिस्सों में हिंदू महिलाओं का भी मंदिरों में प्रवेश वर्जित है। जब कोई धर्म एक संगठन में बदलता है तो आमतौर पर इसका सर्वाधिक रुढ़िवादी हिस्सा इस पर हावी हो जाता है जो किसी किस्म की असहमति बर्दाश्त नहीं करता। अमेरिका के कुछ हिस्सों में धार्मिक रुढ़िवाद बड़ी समस्या बन गया है जो देश के अंदर भी शांति के लिए खतरा पैदा कर रहा है और बाहर भी। कई धर्म संप्रदायों में टूट जाते हैं और निरंतर आपसी हिंसा तथा भिन्न मत रखने वाले अल्पसंख्यकों के उत्पीड़न में लगे रहते हैं।

इस प्रकार, धार्मिक वर्चस्व को केवल अंतर-धार्मिक वर्चस्व के तौर पर नहीं देखा जा सकता है। यह एक दूसरा सुस्पष्ट रूप यानी धर्म के अंदर वर्चस्व का रूप भी ग्रहण करता है। संस्थाबद्ध धार्मिक वर्चस्व के सभी रूपों का विरोधी होने के नाते धर्मनिरपेक्षता को न केवल अंतर-धार्मिक, बल्कि धर्म के अंदरूनी वर्चस्व को भी चुनौती देनी होगी।

हमारे पास धर्मनिरपेक्षता की आम धारणा मौजूद है। यह ऐसा नियामक सिद्धांत है जो धर्मनिरपेक्ष समाज, अर्थात अंतर-धार्मिक तथा अंत:धार्मिक, दोनों तरह के वर्चस्वों से रहित

धर्मनिरपेक्षता

समाज बनाना चाहता है। सकारात्मक रूप से देखा जाय तो यह धर्मों के अंदर आजादी तथा विभिन्न धर्मों के बीच और उनके अंदर समानता को बढ़ावा देता है। अब हम इस व्यापक ढाँचे के अंदर कुछ विशिष्ट और लघुत्तर सवालों पर विचार करते हैं। जैसे कि इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए किस प्रकार का राज्य सक्षम होगा। दूसरे शब्दों में धर्मनिरपेक्षता के लिए प्रतिबद्ध किसी राज्य को धर्म और धार्मिक समुदाय से कैसे संबद्ध होना चाहिए?

8.2 धर्मनिरपेक्ष राज्य

धार्मिक भेदभाव रोकने का एक रास्ता यह हो सकता है कि हम आपसी जागरूकता के लिए एक साथ मिलकर काम करें। लोगों की सोच को बदलने में मदद करने के लिए शिक्षा एक उपाय है। साझेदारी और पारस्परिक सहायता के व्यक्तिगत उदाहरण भी विभिन्न समुदायों के बीच पूर्वाग्रह और संदेहों को कम करने में योगदान दे सकते हैं। भयानक सांप्रदायिक दंगों के बीच हिंदुओं द्वारा मुसलमानों को अथवा मुसलमानों द्वारा हिंदुओं को बचाने की कहानियाँ पढ़ना हमेशा प्रेरणादायी होता है। लेकिन यह नामुमकिन है कि केवल शिक्षा या भलाई धार्मिक भेदभाव को मिटा दे। आधुनिक समाज में, राज्यों के हाथों में प्रचुर सार्वजनिक शक्ति निहित होती है। राज्यसत्ता जिस प्रकार काम करती है, उससे अंतर-सामुदायिक टकरावों और धार्मिक भेदभाव से अपेक्षाकृत कम ग्रसित समाज की रचना के प्रयासों पर निर्णायक प्रभाव पड़ता ही है। इस कारण हमें यह देखने की ज़रूरत है। कि धार्मिक टकराव रोकने और धार्मिक समानता को प्रोत्साहित करने के लिए किस किस्म की राज्यसत्ता आवश्यक है।

आओ कुछ करके सीखे

कुछ ऐसे तरीकों की सूची बनाओ जिनके माध्यम से सांप्रदायिक सद्भाव को बढ़ावा दिया जा सकता है।

एक राष्ट्र को किसी धार्मिक समूह के वर्चस्व को कैसे रोकना चाहिए? सबसे पहले तो राज्यसत्ता किसी खास धर्म के प्रमुखों द्वारा संचालित नहीं होनी चाहिए। पुरोहिताई व्यवस्था द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित राष्ट्र धर्मतांत्रिक राष्ट्र कहलाता है। धर्मतांत्रिक राष्ट्र अपनी श्रेणीबद्धता, उत्पीड़न और दूसरे धार्मिक समूह के सदस्यों को धार्मिक स्वतंत्रता न देने के लिए कुख्यात रहे हैं। मध्यकालीन यूरोप में पोप की राज्यसत्ता या हाल के समय में तालिबानी राज्यसत्ता, जहाँ धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं के बीच अलगाव का अभाव था, इस प्रकार के उदाहरण हैं। यदि हमारे लिए शांति, स्वतंत्रता और समानता का कोई महत्त्व है तो, धार्मिक संस्थाओं और राज्यसत्ता की संस्थाओं के बीच संबंध विच्छेद अवश्य होना चाहिए।

कुछ लोग सोचते हैं कि संगठित धर्म और राज्यसत्ता के बीच संबंध विच्छेद ही धर्मनिरपेक्ष राज्य के अस्तित्व के लिए पर्याप्त है। मगर ऐसा होता नहीं दिखता है। अनेक

धर्मनिरपेक्षता

राज्य धर्मतांत्रिक न होते हुए भी किसी खास धर्म के साथ घनिष्ठ गठजोड़ बनाए रखते हैं। उदाहरण के लिए, सोलहवीं सदी में इंग्लैंड का राज्य पुरोहित वर्ग द्वारा संचालित न होते हुए भी स्पष्ट रूप से आंग्ल चर्च और इसके सदस्यों का पक्षपोषण करता था। इंग्लैंड में स्थापित आंग्ल चर्च का सुस्थापित ईसाई धर्म राष्ट्र का आधिकारिक धर्म भी था। आज सुन्नी इस्लाम पाकिस्तान का आधिकारिक राज्यधर्म है। ऐसे शासनतंत्रों में आंतरिक विरोध या धार्मिक समानता की तनिक भी गुंजाइश नहीं होती है।

सचमुच धर्मनिरपेक्ष होने के लिए राज्यसत्ता को न केवल धर्मतांत्रिक होने से इनकार करना होगा बल्कि उसे किसी भी धर्म के साथ किसी भी तरह के औपचारिक कानूनी गठजोड़ से परहेज करना होगा। धर्म और राज्यसत्ता के बीच संबंध विच्छेद धर्मनिरपेक्ष राज्यसत्ता के लिए ज़रूरी है, मगर केवल यही पर्याप्त नहीं है। धर्मनिरपेक्ष राज्य को ऐसे सिद्धांतों और लक्ष्यों के लिए अवश्य प्रतिबद्ध होना चाहिए जो अंशतः ही सही, गैर धार्मिक स्रोतों से निकलते हों। ऐसे लक्ष्यों में शांति, धार्मिक स्वतंत्रता, धार्मिक उत्पीड़न, भेदभाव और वर्जना से आजादी और साथ ही अंतर-धार्मिक व अंतःधार्मिक समानता शामिल रहनी चाहिए।

इन लक्ष्यों को प्रोत्साहित करने के लिए राज्य को संगठित धर्म और इसकी संस्थाओं से कुछ मूल्यों की खातिर अवश्य ही पृथक रहना चाहिए। बहरहाल यह मानने का कोई कारण नहीं है कि, राजनीतिक धर्मनिरपेक्षता किसी एक ही रूप में सामने आती है। वास्तव में इस पृथकता के विविध रूप हो सकते हैं, जो इस पर निर्भर है कि यह संबंध विच्छेद किस प्रकार हासिल किया गया है, किन खास मूल्यों को वह बढ़ावा देना चाहता है और इन मूल्यों को कैसे परिभाषित किया गया है। अब हम ऐसी दो संकल्पनाओं पर विचार करेंगे। एक है मुख्यधारा की पश्चिमी संकल्पना जिसका सर्वोत्तम नमूना अमेरिकी राज्य प्रस्तुत करता है और दूसरी है एक वैकल्पिक संकल्पना जिसका सर्वोत्तम उदाहरण भारतीय राज्य है।

वाद-विवाद-संवाद

अन्य धर्मों के बारे में अधिक जानना, बाकी लोगों और उनकी आस्थाओं का सम्मान करना और उन्हें स्वीकार करने की ओर पहला कदम है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि हम उन मूल्यों के लिए खड़े नहीं हो सकते जिन्हें हम आधारभूत मानवीय मूल्य मानते हैं।

8.3 धर्मनिरपेक्षता का यूरोपीय मॉडल

सभी धर्मनिरपेक्ष राज्यों में एक चीज़ सामान्य है। वे न तो धर्मतांत्रिक हैं और न किसी खास धर्म की स्थापना ही करते हैं। हालाँकि, सर्वाधिक प्रचलित संकल्पना में, जो मुख्यतः अमेरिकी मॉडल द्वारा प्रेरित है, धर्म और राज्यसत्ता के संबंध विच्छेद को पारस्परिक निषेध के रूप में समझा जाता है। राज्यसत्ता धर्म के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी और इसी प्रकार, धर्म राज्यसत्ता के मामलों में दखल नहीं देगा। दोनों के अपने अलग-अलग क्षेत्र हैं,

धर्मनिरपेक्षता

कमाल अतातुर्क की धर्मनिरपेक्षता

आइए, हम एक अत्यंत भिन्न किस्म की धर्मनिरपेक्षता पर नज़र दौड़ाते हैं। बीसवीं सदी के प्रथमार्ध में तुर्की में धर्मनिरपेक्षता अमल में आई। यह धर्मनिरपेक्षता संगठित धर्म से सैद्धांतिक दूरी बनाने की बजाय धर्म में सक्रिय हस्तक्षेप के जरिए उसके दमन की हिमायत करती थी। मुस्तफा कमाल अतातुर्क ने इस किस्म की धर्मनिरपेक्षता पेश की और उस पर अमल भी किया।

अतातुर्क प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सत्ता में आए। वे तुर्की के सार्वजनिक जीवन में खिलाफत को समाप्त कर देने के लिए कटिबद्ध थे। वे मानते थे कि परंपरागत सोच-विचार और अभिव्यक्तियों से नाता तोड़े बगैर तुर्की को उसकी दुखद स्थिति से नहीं उबारा जा सकता है। उन्होंने तुर्की को आधुनिक और धर्मनिरपेक्ष बनाने के लिए आक्रामक ढंग से कदम बढ़ाए। उन्होंने खुद अपना नाम मुस्तफा कमाल पाशा से बदलकर कमाल अतातुर्क कर लिया (अतातुर्क का अर्थ होता है तुर्कों का पिता)। हैट कानून के जरिये मुसलमानों द्वारा पहनी जाने वाली परंपरागत फ़ैज़ टोपी को प्रतिबंधित कर दिया गया। स्त्रियों-पुरुषों के लिए पश्चिमी पोशाकों को बढ़ावा दिया गया। तुर्की पंचांग की जगह पश्चिमी (ग्रिगोरियन) पंचांग लाया गया। 1928 में नई तुर्की वर्णमाला को संशोधित लैटिन रूप में अपनाया गया।

क्या आप ऐसी धर्मनिरपेक्षता की कल्पना कर सकते हैं, जो आपको अपनी पहचान से जुड़ा नाम रखने और आपकी पसंद के कपड़े पहनने की आजादी न दे, और आपकी बोलचाल की भाषा ही बदल डाले? आपके खयाल से अतातुर्क की धर्मनिरपेक्षता भारतीय धर्मनिरपेक्षता से किन मायनों में भिन्न है?

अलग-अलग सीमाएँ हैं। राज्यसत्ता की कोई नीति पूर्णत: धार्मिक तर्क के आधार पर निर्मित नहीं हो सकती। कोई धार्मिक वर्गीकरण किसी सार्वजनिक नीति की बुनियाद नहीं बन सकता। अगर ऐसा हुआ तो वह राज्यसत्ता के मामले में धर्म की अवैध घुसपैठ मानी जाएगी।

उसी प्रकार, राज्य किसी धार्मिक संस्था को मदद नहीं देगा। वह धार्मिक समुदायों द्वारा संचालित शैक्षणिक संस्थाओं को वित्तीय सहयोग नहीं दे सकता। जब तक धार्मिक समुदायों की गतिविधियाँ देश के कानून द्वारा निर्मित व्यापक सीमा के अंदर होती हैं, वह इन गतिविधियों में व्यवधान नहीं पैदा कर सकता। उदाहरण के लिए, अगर कोई धार्मिक संस्था औरतों के पुरोहित होने को वर्जित करती है, तो राज्यसत्ता इस मामले में कुछ नहीं कर सकती। अगर कोई धार्मिक समुदाय अपने भिन्न मतावलंबियों का बहिष्कार करता है तो राज्य इस मामले में मूक दर्शक ही बना रह सकता है। अगर कोई खास धर्म अपने कुछ सदस्यों को मंदिर के गर्भगृह में जाने से रोकता है, तो राज्य के पास मामले को यथावत बने रहने देने के सिवा कोई विकल्प नहीं है। इस विचार से धर्म एक निजी मामला है। वह राज्यसत्ता की नीति या कानून का विषय नहीं हो सकता।

यह संकल्पना स्वतंत्रता और समानता की व्यक्तिवादी ढंग से व्याख्या करती है। स्वतंत्रता का मतलब है- व्यक्तियों की स्वतंत्रता। समानता का तात्पर्य है- व्यक्तियों के बीच समानता।

धर्मनिरपेक्षता

इमें यह गुंजाइश नहीं है कि किसी समुदाय को अपनी पसंद का आचरण करने की स्वतंत्रता रहे। समुदाय आधारित अधिकारों अथवा अल्पसंख्यक अधिकारों की कोई गुंजाइश नहीं है। पश्चिमी समाजों का इतिहास बताता है कि ऐसा क्यों है। यहूदियों की उपस्थिति को छोड़ दिया जाय तो अधिकांश पश्चिमी समाज काफी हद तक धार्मिक रूप से सजातीय थे। स्वभाविक रूप से इस तथ्य के चलते उनके केंद्र में अंत:धार्मिक वर्चस्व ही रहता था। जहाँ अनेक मामलों में वैयक्तिक स्वतंत्रता को साकार करने के लिए चर्च से राज्य के संबंध विच्छेद पर कड़ाई के साथ बल दिया जाता था वहीं अंतर-धार्मिक समानता और इसीलिए अल्पसंख्यकों के अधिकार के मुद्दे प्राय: उपेक्षित रह जाते थे।

इस तरह की धर्मनिरपेक्षता में राज्य समर्थित धार्मिक सुधार के लिए कोई जगह नहीं है। यह विशेषता सीधे तौर पर इस समझ से निकलती है कि राज्य और धर्म के अलगाव के लिए इनका पारस्परिक निषेध ज़रूरी है।

8.4 धर्मनिरपेक्षता का भारतीय मॉडल

कभी-कभी यह कहा जाता है कि भारतीय धर्मनिरपेक्षता पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता की नकल भर है। लेकिन अपने संविधान को ध्यान से पढ़ने से पता चलता है कि ऐसा नहीं है। भारतीय धर्मनिरपेक्षता पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता से बुनियादी रूप से भिन्न है। भारतीय धर्मनिरपेक्षता केवल धर्म और राज्य के बीच संबंध विच्छेद पर बल नहीं देती है। अंतर-धार्मिक समानता भारतीय

धर्मनिरपेक्षता के बारे में नेहरू के विचार

जब किसी विद्यार्थी ने नेहरू से यह बताने को कहा कि आज़ाद भारत में धर्मनिरपेक्षता का क्या मतलब होगा तो उन्होंने जवाब दिया था – 'सभी धर्मों को राज्य द्वारा समान संरक्षण'। वे ऐसा धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र चाहते थे जो 'सभी धर्मों की हिफाजत करे; अन्य धर्मों की कीमत पर किसी एक धर्म की तरफदारी न करे, और खुद किसी धर्म को राज्यधर्म के बतौर स्वीकार न करे'। नेहरू भारतीय धर्मनिरपेक्षता के दार्शनिक थे।

नेहरू स्वयं किसी धर्म का अनुसरण नहीं करते थे। ईश्वर में उनका विश्वास ही नहीं था। लेकिन उनके लिए धर्मनिरपेक्षता का मतलब धर्म के प्रति विद्वेष नहीं था। इस अर्थ में नेहरू तुर्की के अतातुर्क से काफी भिन्न थे। साथ ही, वे धर्म और राज्य के बीच पूर्ण संबंध विच्छेद के पक्ष में भी नहीं थे। उनके विचार के अनुसार, समाज में सुधार के लिए धर्मनिरपेक्ष राज्यसत्ता धर्म के मामले में हस्तक्षेप कर सकती है। जातीय भेदभाव, दहेज प्रथा और सती प्रथा की समाप्ति के लिए कानून बनवाने तथा देश की महिलाओं को कानूनी अधिकार और सामाजिक स्वतंत्रता मुहैया कराने में नेहरू ने खुद महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

अनेक मामलों में वे लचीला होने को तत्पर रहते थे, मगर यही एक चीज़ ऐसी थी जिस पर वे हमेशा दृढ़ और समझौताहीन बने रहे। उनके लिए धर्मनिरपेक्षता का मतलब था तमाम किस्म की सांप्रदायिकता का पूर्ण विरोध। बहुसंख्यक समुदाय की सांप्रदायिकता की आलोचना में वे खास तौर पर कठोरता बरतते थे क्योंकि इससे राष्ट्रीय एकता पर खतरा उत्पन्न होता था। उनके लिए धर्मनिरपेक्षता सिद्धांत का मामला भर नहीं था, वह भारत की एकता और अखंडता की एकमात्र गारंटी भी था।

धर्मनिरपेक्षता

संकल्पना के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हम इस पर और भी विस्तार के साथ सोच-विचार करेंगे।

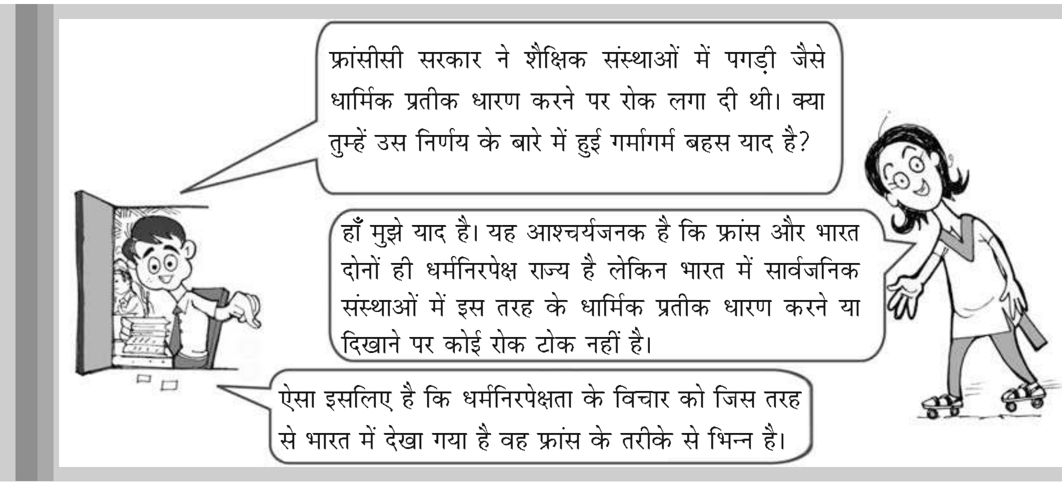

भारतीय धर्मनिरपेक्षता को कौन-सी चीज़ विशिष्ट बनाती है? सर्वप्रथम तो यह गहरी धार्मिक विविधता के संदर्भ में उदित हुआ था। यह विविधता पश्चिमी आधुनिक विचारों और राष्ट्रवाद के आगमन से पहले की चीज़ है। भारत में पहले से ही अंतर-धार्मिक 'सहिष्णुता' की संस्कृति मौजूद थी। बहरहाल हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सहिष्णुता धार्मिक वर्चस्व की विरोधी नहीं है। हो सकता है सहिष्णुता में हर किसी को कुछ मौका मिल जाए, लेकिन ऐसी आजादी प्राय: सीमित होती है। इसके अलावा, सहिष्णुता हम में उन लोगों को बर्दाश्त करने की क्षमता पैदा करती है, जिन्हें हम बिल्कुल नापसंद करते हैं। यह उस समाज के लिए तो भारी गुण है जो किसी बड़े गृहयुद्ध से उबर रहा हो मगर शांति के समय में नहीं जब लोग समान मान-मर्यादा के लिए संघर्ष कर रहे हों।

पश्चिमी आधुनिकता के आगमन ने भारतीय चिंतन में अब तक उपेक्षित और हाशिए पर रही समानता की अवधारणा को सतह पर ला दिया। उसने इस धारणा को धारदार बनाया और हमें समुदाय के अंदर समानता पर बल देने की ओर अग्रसर किया। उसने हमारे समाज में मौजूद श्रेणीबद्धता को हटाने लिए अंतर-सामुदायिक समानता के विचार को भी उद्घाटित किया। इस तरह भारतीय समाज में पहले से मौजूद धार्मिक विविधता और पश्चिम से आए विचारों के बीच अंत:क्रिया शुरू हुई, जिसके फलस्वरूप भारतीय धर्मनिरपेक्षता ने विशिष्ट रूप ग्रहण किया। भारतीय धर्मनिरपेक्षता ने अंत:धार्मिक और अंतर-धार्मिक वर्चस्व पर एक साथ ध्यान केंद्रित किया। इसने हिंदुओं के अंदर दलितों और महिलाओं के उत्पीड़न और

धर्मनिरपेक्षता

भारतीय मुसलमानों अथवा ईसाइयों के अंदर महिलाओं के प्रति भेदभाव, तथा बहुसंख्यक समुदाय द्वारा अल्पसंख्यक धार्मिक समुदायों के अधिकारों पर उत्पन्न किए जा सकने वाले खतरों का समान रूप से विरोध किया। इस प्रकार, यह मुख्यधारा की पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता से इसकी पहली महत्त्वपूर्ण भिन्नता है।

इसी से जुड़ी है *दूसरी* भिन्नता यह है कि भारतीय धर्मनिरपेक्षता का संबंध व्यक्तियों की धार्मिक आजादी से ही नहीं, अल्पसंख्यक समुदायों की धार्मिक आज़ादी से भी है। इसके अंतर्गत हर आदमी को अपनी पसंद का धर्म मानने का अधिकार है। उसी प्रकार, धार्मिक अल्पसंख्यकों को भी अपनी खुद की संस्कृति और शैक्षिक संस्थाएँ कायम रखने का अधिकार है।

> **वाद-विवाद-संवाद**
>
> धार्मिक पहचान और अंतर का बच्चों के लिए कोई मतलब नहीं है।

एक *तीसरी* भिन्नता भी है। चूँकि धर्मनिरपेक्ष राज्य को अंतर-धार्मिक वर्चस्व के मसले पर भी समान रूप से चिंतित रहना है, अतः भारतीय धर्मनिरपेक्षता में राज्य समर्थित धार्मिक सुधार की गुंजाइश भी है और अनुकूलता भी। इसीलिए भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता पर प्रतिबंध लगाया है। भारतीय राज्य ने बाल विवाह के उन्मूलन और अंतर्जातीय विवाह पर हिंदूधर्म के द्वारा लगाए निषेध को खत्म करने हेतु अनेक कानून बनाए हैं।

बहरहाल, प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या कोई राज्य सुधारों की पहल या समर्थन करते हुए भी धर्मनिरपेक्ष बना रह सकता है? क्या धर्म और राज्य के बीच पूरी तरह से संबंध विच्छेद के बिना भी कोई राज्यसत्ता धर्मनिरपेक्ष होने का दावा कर सकती है? भारतीय राज्य का धर्मनिरपेक्ष चरित्र वस्तुतः इसी वजह से बरकरार है कि वह न तो धर्मतांत्रिक है और न ही वह किसी धर्म को राजधर्म मानता है। इसके परे, इसने धार्मिक समानता हासिल करने के लिए अत्यंत परिष्कृत नीति अपनाई है। इसी नीति के चलते वह अमेरिकी शैली में धर्म से विलग भी हो सकता है या ज़रूरत पड़ने पर उसके साथ संबंध भी बना सकता है।

भारतीय राज्य धार्मिक अत्याचार का विरोध करने हेतु धर्म के साथ निषेधात्मक संबंध भी बना सकता है। यह बात अस्पृश्यता पर प्रतिबंध जैसी कार्रवाइयों में झलकती है। वह जुड़ाव की सकारात्मक विधि भी चुन सकती है। इसीलिए, भारतीय संविधान तमाम धार्मिक अल्पसंख्यकों को अपनी खुद की शिक्षण संस्थाएँ खोलने और चलाने का अधिकार देता है जिन्हें राज्यसत्ता की ओर से सहायता भी मिल सकती है। शांति, स्वतंत्रता और समानता के मूल्यों को बढ़ावा देने के लिए भारतीय राज्यसत्ता ये तमाम जटिल रणनीतियाँ अपना सकती है।

अब तक यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि भारतीय धर्मनिरपेक्षता की यह जटिलता 'सर्व धर्म समभाव' के मुहावरे में क्यों समाहित नहीं हो सकती है। अगर इस मुहावरे का मतलब तमाम धर्मों का शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व या अंतर-धार्मिक सहिष्णुता है, तो इससे

धर्मनिरपेक्षता

चिंतन-मंथन

क्या धर्मनिरपेक्षता नीचे लिखी बातों के संगत है।

- ☐ अल्पसंख्यक समुदाय की तीर्थ यात्रा को आर्थिक अनुदान देना।
- ☐ सरकारी कार्यालयों में धार्मिक अनुष्ठान का आयोजन करना।

आओ कुछ करके सीखे

- ☐ बॉम्बे, गर्म हवा या इस विषय से जुड़ी कोई फिल्म देखें। इन फिल्मों में धर्मनिरपेक्षता के किन आदर्शों को दिखाया गया है।
- ☐ भीष्म साहनी के उपन्यास तमस या राही मासूम रजा के आधा गाँव को पढ़े।

काम नहीं चलेगा क्योंकि धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व अथवा सहिष्णुता से काफी आगे तक जाता है। अगर इस मुहावरे का मतलब तमाम धर्मों के प्रति सम्मान की समान भावना है, तो इसमें एक अस्पष्टता है, जिसे स्पष्ट करना ज़रूरी है। भारतीय धर्मनिरपेक्षता तमाम धर्मों में राज्यसत्ता के सैद्धांतिक हस्तक्षेप की अनुमति देती है। ऐसा हस्तक्षेप हर धर्म के कुछ खास पहलुओं के प्रति असम्मान प्रदर्शित करता है। उदाहरण के लिए धर्म के स्तर पर मान्य जातिगत विभाजन भारतीय धर्मनिरपेक्षता के अंतर्गत स्वीकार्य नहीं हो सकता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य के लिए ज़रूरी नहीं है कि धर्म के हर पहलू को वह एक जैसा सम्मान प्रदान करे। यह संगठित धर्मों के कुछ पहलुओं के प्रति एक जैसा सम्मान दर्शाने की अनुमति भी देता है।

8.5 भारतीय धर्मनिरपेक्षता की आलोचनाएँ

भारतीय धर्मनिरपेक्षता तीखी आलोचनाओं का विषय बनी रही है। ये आलोचनाएँ क्या हैं? क्या हम धर्मनिरपेक्षता को उनसे बचा सकते हैं?

धर्म–विरोधी

पहला, अक्सर यह तर्क दिया जाता है कि धर्मनिरपेक्षता धर्मविरोधी है। हम शायद यह दिखा पाने में सफल हुए हैं कि धर्मनिरपेक्षता संस्थाबद्ध धार्मिक वर्चस्व का विरोध करती है। यह धर्मविरोधी होने का पर्याय नहीं है। उसी प्रकार, कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि धर्मनिरपेक्षता धार्मिक पहचान के लिए खतरा पैदा करती है। लेकिन हमने पहले ही देखा कि धर्मनिरपेक्षता धार्मिक स्वतंत्रता और समानता को बढ़ावा देती है। अतएव, यह धार्मिक पहचान पर खतरा पैदा करने की बजाय उसकी हिफाजत करती है। बेशक, वह धार्मिक पहचान के मतांध, हिंसक, दुराग्रही, औरों का बहिष्कार करने वाले और अन्य धर्मों के प्रति घृणा उत्पन्न करने वाले रूपों पर अवश्य चोट करती है। वास्तविक प्रश्न यह नहीं है कि किसी चीज़ पर चोट की जाय या नहीं, बल्कि यह है कि जिस पर प्रहार किया जा रहा है वह मूल रूप से उस योग्य है या नहीं।

धर्मनिरपेक्षता

पश्चिम से आयातित

दूसरी आलोचना यह है कि धर्मनिरपेक्षता ईसाइयत से जुड़ी हुई है, अर्थात यह पश्चिमी चीज़ है और इसीलिए भारतीय स्थितियों के लिए अनुपयुक्त है। पहली नज़र में, यह एक विचित्र शिकायत है क्योंकि पतलून से लेकर इंटरनेट और संसदीय लोकतंत्र तक, आज भारत में लाखों चीज़ें प्रचलन में हैं, जिनकी जड़ें पश्चिम में हैं। इसीलिए, पहला जवाब तो यही हो सकता है कि ऐसा है भी तो क्या हुआ? क्या आपने किसी यूरोपियन को शिकायत करते सुना है कि शून्य का आविष्कार भारत में हुआ था, अतः वे इसका इस्तेमाल नहीं करेंगे?

बहरहाल, यह एक किस्म का छिछला जवाब होगा। अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक बात यह है, कि सचमुच धर्मनिरपेक्ष होने के लिए किसी राष्ट्र का अपना खुद का लक्ष्य होना चाहिए। पश्चिमी राज्य तब धर्मनिरपेक्ष बने, जब एक महत्त्वपूर्ण स्तर पर, उन्होंने ईसाइयत से संबंध विच्छेद कर लिया। पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता में वैसी कोई ईसाइयत नहीं है। फिर इस दावे का क्या मतलब कि यह पश्चिमी है? धर्म और राज्य का पारस्परिक निषेध, जिसे पश्चिमी धर्मनिरपेक्ष समाजों का आदर्श माना जाता है, सभी धर्मनिरपेक्ष राज्यसत्ता की प्रमुख विशेषता भी नहीं है। संबंध विच्छेद के विचार की व्याख्या अलग-अलग तरह से की जा सकती हैं। कोई धर्मनिरपेक्ष राज्यसत्ता समुदायों के बीच शांति को बढ़ावा देने के लिए धर्म से सैद्धांतिक दूरी बनाए रख सकती है और खास समुदायों की रक्षा के लिए वह उसमें हस्तक्षेप भी कर सकती है। भारत में ठीक यही बात हुई। यहाँ ऐसी धर्मनिरपेक्षता विकसित हुई है, जो न तो पूरी तरह ईसाइयत से जुड़ी है और न भारतीय जमीन पर सीधा-सीधा पश्चिमी आरोपण ही है। तथ्य तो यह है कि धर्मनिरपेक्षता का विगत इतिहास पश्चिमी और गैर-पश्चिमी, दोनों मार्गों का अनुसरण करता दिखता है। पश्चिम में चर्च और राज्य के संबंध विच्छेद का सवाल केंद्रीय था और भारत जैसे देशों में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सवाल महत्त्वपूर्ण रहे हैं।

अल्पसंख्यकवाद

तीसरी आलोचना के तौर पर धर्मनिरपेक्षता पर अल्पसंख्यकवाद का आरोप मढ़ा जाता है। यह सच है कि भारतीय धर्मनिरपेक्षता अल्पसंख्यक अधिकारों की पैरवी करती है, लेकिन सवाल यह है कि क्या यह न्यायोचित है? आप कल्पना कीजिए कि चार वयस्क पुरुष सबसे तेज चलने वाली गाड़ी में सफर कर रहे हैं। बीच में ही एक यात्री सिगरेट पीने की इच्छा व्यक्त करता है। दूसरा यात्री शिकायत करता है कि वह सिगरेट का धुँआ बर्दाश्त नहीं कर सकता। अन्य दो यात्री भी धूम्रपान करते हैं, मगर वे कुछ बोलते नहीं हैं। साफ तौर पर कम से कम दो यात्रियों के बीच तो टकराव अवश्य है। एक विचार आया कि मतदान के जरिये इसे हल किया जाय। सिगरेट पीने वाले दो खामोश यात्री उस व्यसनी का साथ देते हैं और धूम्रपान न करने वाला दो मतों के अंतर से हार जाता है। यहाँ अल्पसंख्यक

धर्मनिरपेक्षता

पराजित होता है, मगर नतीजा तो उचित प्रतीत होता है क्योंकि आम सहमति से उचित लोकतांत्रिक रीति अपनाई गई

अब स्थिति को थोड़ा बदल दें। कल्पना करें कि सिगरेट न पीने वाला यात्री दमे से पीड़ित है। धूम्रपान से उसे जानलेवा दौरा पड़ सकता है। उसकी इस बात से कि दूसरा यात्री धूम्रपान न करे, उसका बुनियादी और बहुत ज़रूरी हित व्यक्त होता है। क्या बहुमत के फ़ैसले को सही मानने वाली, पहली पद्धति ऐसे संदर्भ में जायज मानी जा सकती है? क्या आप मानते हैं कि उस व्यसनी यात्री को तब तक सिगरेट नहीं पीनी चाहिए जब तक कि गाड़ी अपने गंतव्य पर न पहुँच जाय? आप सहमत होंगे कि जहाँ बुनियादी हितों का प्रश्न हो, वहाँ लोकतांत्रिक पद्धति के तौर पर मतदान उपयुक्त नहीं होता है। अपने महत्त्वपूर्ण हितों की पूर्ति किसी व्यक्ति का प्राथमिक अधिकार होती है। जो व्यक्तियों के लिए सही है, वह समुदायों के लिए भी सही होगा। अल्पसंख्यकों के सर्वाधिक मौलिक हितों की क्षति नहीं होनी चाहिए और संवैधानिक कानून द्वारा उसकी हिफाजत की जानी चाहिए। भारतीय संविधान में ठीक इसी तरीके से इस पर विचार किया गया है। जिस हद तक अल्पसंख्यकों के अधिकार उनके मौलिक हितों की रक्षा करते हैं, उस हद तक वे जायज हैं।

मेरा ख्याल है कि हर किसी के साथ हर स्थिति में बिल्कुल एक तरह से बरताव करना उचित नहीं है।

कुछ लोग फिर भी कह सकते हैं कि अल्पसंख्यकों के अधिकार ऐसे विशेषाधिकार हैं, जिसके लिए दूसरों को कीमत चुकानी पड़ती है। तब ऐसे विशेषाधिकार क्यों दिये जाएँ? एक अन्य उदाहरण से इसका जवाब बहुत अच्छी तरह दिया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि किसी प्रेक्षागृह के पहले तल्ले पर कोई फिल्म दिखाई जा रही है। वहाँ सीढ़ियों के जरिये पहुँचा जा सकता है। टिकट खरीदने, सीढ़ी पर चढ़ने और फिल्म देखने की सबको इज़ाज़त है। लेकिन क्या ऐसा सचमुच है? क्या हर कोई ऐसा करने को स्वतंत्र है? कल्पना कीजिए कि उन लालायित दर्शकों में कुछ वृद्ध लोग भी हैं, कुछ ऐसे हैं जिनकी हाल ही में टांग टूट गई है और कुछ अन्य शारीरिक रूप से अक्षम हैं। उनमें से कोई भी सीढ़ियाँ नहीं चढ़ सकता है। क्या आपके ख्याल से लिफ्ट अथवा व्हील चेयर पर बैठे लोगों के लिए ढालनुमा सीढ़ी या लिफ्ट की व्यवस्था करना गलत होगा? ऐसा करने से वे लोग भी वही चीज़ पा सकते हैं, जो दूसरे लोग सहज ही सीढ़ियाँ चढ़कर प्राप्त कर रहे हैं। लेकिन, अल्पसंख्या वाले इस समूह को पहले तल्ले पर जाने के लिए भिन्न सुविधा की ज़रूरत है। अगर पूरी जगह में ऐसा निर्माण किया जाए, जो केवल युवा और सक्षम लोगों के लिए ही उपयुक्त हो, तो लोगों के कुछ खास हिस्से फिल्म देखने जैसे लाभ से हमेशा के लिए वंचित हो जाएँगे। उनके लिए अलग व्यवस्था उनके साथ विशेष बरताव नहीं है। उनके लिए यह वैसे ही सम्मान और गरिमा

धर्मनिरपेक्षता

से भरा बरताव है जैसा दूसरों के साथ किया जा रहा है। इसका मतलब यही है कि अल्पसंख्यक अधिकारों को विशेष सुविधाओं के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए।

अतिशय हस्तक्षेपकारी

चौथी आलोचना कहती है कि धर्मनिरपेक्षता उत्पीड़नकारी है और समुदायों की धार्मिक स्वतंत्रता में अतिशय हस्तक्षेप करती है। यह भारतीय धर्मनिरपेक्षता के बारे में गलत समझ है। यह सच है कि पारस्परिक निषेध के तौर पर धर्म और राज्य के संबंध विच्छेद के विचार को न मानकर भारतीय धर्मनिरपेक्षता धर्म में हस्तक्षेप को अस्वीकार कर देती है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यह अतिशय हस्तक्षेपकारी है। भारतीय धर्मनिरपेक्षता धर्म से सैद्धांतिक दूरी कायम रखने पर चलती है जो हस्तक्षेप की गुंजाइश भी बनाती है। इसके अतिरिक्त, हस्तक्षेप का मतलब अपने-आप में उत्पीड़नकारी हस्तक्षेप नहीं होता।

राज्य धर्मों के साथ एक समान बरताव किस तरह कर सकता है। क्या हर धर्म के लिए बराबर संख्या में छुट्टी कर देने से ऐसा किया जा सकता है? या सार्वजनिक अवसरों पर किसी भी प्रकार के धार्मिक समारोह पर रोक लगाकर समान बरताव किया जा सकता है?

यह बिल्कुल सही है कि भारतीय धर्मनिरपेक्षता राज्यसत्ता समर्थित धार्मिक सुधार की इज़ाज़त देती है। लेकिन इसे ऊपर से आरोपित किए गए बदलाव या उत्पीड़नकारी हस्तक्षेप के समान नहीं माना जाना चाहिए। लेकिन यह आपत्ति तो की ही जा सकती है कि क्या हमेशा ऐसा होता है? फिर विभिन्न धर्मों के निजी कानूनों में सुधार अभी तक क्यों नहीं हुआ? भारतीय राज्य के समक्ष यही बड़ी दुविधा है। एक धर्मनिरपेक्षवादी निजी कानूनों को संविधान द्वारा संरक्षित समुदाय-विशेष के अधिकारों के रूप में देख सकता है। वह इन कानूनों का विरोध भी कर सकता है क्योंकि ये महिलाओं को बराबरी का दर्जा नहीं देते और इसीलिए अन्यायपूर्ण हैं। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि ये कानून धर्मनिरपेक्षता के बुनियादी सिद्धांतों का तिरस्कार करते हैं। इन्हें अंतर-धार्मिक वर्चस्व से स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति भी समझा जा सकता है और अंत:धार्मिक वर्चस्व की मिसाल भी।

ऐसे आंतरिक टकराव किसी जटिल सिद्धांत के स्वाभाविक अंग होते हैं, लेकिन ज़रूरी नहीं कि ये हमेशा हमारे साथ बने रहें। ये कानून अलग-अलग धर्मों में विवाह, उत्तराधिकार और अन्य पारिवारिक मामलों को संचालित करते हैं। निजी कानूनों को इस तरह से सुधारा जा सकता है कि वे अल्पसंख्यक अधिकारों के साथ-साथ पुरुषों और महिलाओं के बीच बराबरी की भी मिसाल बने रहें। ऐसे सुधार बलपूर्वक या राज्यसत्ता के जरिये नहीं लाये जा सकते, लेकिन राज्य इससे पूरी दूरी बनाए रखने की नीति भी नहीं अपना सकती है। राज्यसत्ता को हर धर्म के अंदर उदारवादी और लोकतांत्रिक आवाज़ का समर्थन करने के जरिये मददगार की भूमिका निभानी होगी।

धर्मनिरपेक्षता

वोट-बैंक की राजनीति

पाँचवाँ, तर्क यह दिया जाता है कि धर्मनिरपेक्षता वोट बैंक की राजनीति को बढ़ावा देती है। अनुभव जन्य दावे के तौर पर यह पूर्णतः असत्य भी नहीं हैं। मगर, हमें इस मुद्दे को ठोस परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। प्रथमतः, लोकतंत्र में राजनेताओं के लिए वोट पाना ज़रूरी है। यह उनके काम का अंग है और लोकतांत्रिक राजनीति बड़ी हद तक ऐसी ही है। लोगों के किसी समूह के पीछे लगने या उनका वोट पाने की खातिर कोई नीति बनाने का वादा करने के लिए राजनेताओं को दोष देना उचित नहीं होगा। असली सवाल तो यह है कि वे ठीक-ठीक किस मकसद से वोट पाना चाहते हैं? इसमें सिर्फ उन्हीं का हित है या विचाराधीन समूह का भी हित है। यदि किसी राजनेता को वोट देने वाला समूह उसके द्वारा बनवायी नीति से लाभांवित नहीं हुआ, तो बेशक वह राजनेता दोषी होगा। यदि अल्पसंख्यकों का वोट चाहने वाले धर्मनिरपेक्ष राजनेता उनकी इच्छा पूरी करने में समर्थ होते हैं, तो यह उस धर्मनिरपेक्ष परियोजना की सफलता होगी, जो आखिरकार अल्पसंख्यकों के हितों की भी हिफ़ाजत करती है।

लेकिन, अगर कोई व्यक्ति विचाराधीन समूह का कल्याण अन्य समूहों के कल्याण और अधिकारों की कीमत पर करना चाहे, तब क्या होगा? यदि ये धर्मनिरपेक्ष राजनेता बहुसंख्यकों के हितों को नुकसान पहुँचायें, तब क्या होगा? तब एक नया अन्याय पैदा होगा। लेकिन क्या आप ऐसे उदाहरणों के बारे में सोच सकते हैं? एक-दो नहीं, बल्कि ऐसे ढेर सारे उदाहरण ताकि आप दावा कर सकें कि पूरा राजनीति-तंत्र अल्पसंख्यकों के पक्ष में झुका हुआ है। अगर खूब सोचें तब भी आप संभवतः यही पायेंगे कि भारत में ऐसा कुछ हुआ है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। संक्षेप में, वोट बैंक की राजनीति खुद में इतनी गलत चीज़ नहीं है। गलत तो वोट बैंक की वैसी राजनीति है, जो अन्याय को जन्म देती है। महज यह तथ्य कि धर्मनिरपेक्ष दल वोट बैंक का इस्तेमाल करते हैं, कष्टकारक नहीं है। भारत में हर समुदाय के संदर्भ में सभी दल ऐसा करते हैं।

एक असंभव परियोजना

अंतिम उन्मादपूर्ण आलोचना यह हो सकती है कि "धर्मनिरपेक्षता नहीं चल सकती क्योंकि यह बहुत कुछ करना चाहती है, यह ऐसी समस्या का हल ढूँढ़ना चाहती है जिसका समाधान है ही नहीं।" यह समस्या क्या है? यही कि गहरे धार्मिक मतभेद वाले लोग कभी भी शांति से एक साथ नहीं रह सकते। हमारे अनुभव बताते हैं कि यह दावा गलत है। भारतीय सभ्यता का इतिहास दिखाता है कि इस तरह साथ-साथ रहना बिल्कुल संभव है। अन्यत्र भी ऐसा हुआ है। ऑटोमन साम्राज्य इसका प्रेरणादायी उदाहरण है। लेकिन अब आलोचक कह सकते हैं कि सह-अस्तित्व वस्तुतः असमानता की स्थितियों में ही संभव था। श्रेणीबद्धता आधारित प्रणाली में हर कोई जगह पा सकता था। उनका दावा है कि आज ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि अब समानता लगातार प्रभावी सांस्कृतिक मूल्य बनती जा रही है।

धर्मनिरपेक्षता

इस आलोचना का जवाब दूसरी तरह से दिया जा सकता है। एक असंभव परियोजना का अनुसरण नहीं वरन भारतीय धर्मनिरपेक्षता भविष्य की दुनिया का प्रतिबिंब प्रस्तुत करती है। भारत में महान प्रयोग किया जा रहा है जिसे समूची दुनिया बहुत पैनी निगाहों और बड़े चाव से देख रही है। ऐसा कहना ठीक भी है। अतीत में उपनिवेश रहे देशों से लोग अब पश्चिम के मुल्कों में आप्रवास कर रहे हैं। वैश्वीकरण में तेजी आने के साथ पूरे विश्व में लोगों की गतिशीलता अभूतपूर्व ढंग से बढ़ी है। योरोप और अमेरिका तथा मध्य-पूर्व के कुछ हिस्से अब धर्म और संस्कृति की विविधता के लिहाज से भारत जैसा दीखने लगे हैं। ये समाज भारतीय प्रयोग के भविष्य का गहरी रुचि के साथ अवलोकन कर रहे हैं।

धर्मनिरपेक्षता

भारत में राजपत्रित अवकाशों की सूची को ध्यान से पढ़ें। क्या यह भारत में धर्मनिरपेक्षता का उदाहरण प्रस्तुत करती है? तर्क प्रस्तुत करें।

अवकाश का नाम	दिनांक (2006 ई.)
ईद-उल-जुहा (बकरीद)	11 जनवरी
गणतंत्र दिवस	26 जनवरी
मुहर्रम	09 फरवरी
होली	15 मार्च
रामनवमी	06 अप्रैल
महावीर जयंती	11 अप्रैल
मिलाद-उल-नबी (पैगंबर मुहम्मद का जन्म दिवस)	11 अप्रैल
गुड फ्राइडे	14 अप्रैल
बुद्ध पूर्णिमा	13 मई
स्वतंत्रता दिवस	15 अगस्त
जन्माष्टमी	16 अगस्त
महात्मा गाँधी जन्म दिवस	2 अक्तूबर
दशहरा (विजय दशमी)	2 अक्तूबर
महर्षि वाल्मीकी जन्म दिवस	07 अक्तूबर
दीपावली	21 अक्तूबर
ईद-उल-फितर	25 अक्तूबर
गुरूनानक जन्म दिवस	05 नवम्बर
क्रिसमस	25 दिसम्बर

धर्मनिरपेक्षता

प्रश्नावली

1. निम्न में से कौन-सी बातें धर्मनिरपेक्षता के विचार से संगत हैं? कारण सहित बताइये।
   (क) किसी धार्मिक समूह पर दूसरे धार्मिक समूह का वर्चस्व न होना।
   (ख) किसी धर्म को राज्य के धर्म के रूप में मान्यता देना।
   (ग) सभी धर्मों को राज्य का समान आश्रय होना।
   (घ) विद्यालयों में अनिवार्य प्रार्थना होना।
   (ङ.) किसी अल्पसंख्यक समुदाय को अपने पृथक शैक्षिक संस्थान बनाने की अनुमति होना।
   (च) सरकार द्वारा धार्मिक संस्थाओं की प्रबंधन समितियों की नियुक्ति करना।
   (छ) किसी मंदिर में दलितों के प्रवेश के निषेध को रोकने के लिए सरकार का हस्तक्षेप।

2. धर्मनिरपेक्षता के पश्चिमी और भारतीय मॉडल की कुछ विशेषताओं का आपस में घालमेल हो गया है। उन्हें अलग करें और एक नई सूची बनाएँ।

पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता	भारतीय धर्मनिरपेक्षता
धर्म और राज्य का एक दूसरे के मामले में हस्तक्षेप न करने की अटल नीति	राज्य द्वारा समर्थित धार्मिक सुधारों की अनुमति
विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच समानता एक मुख्य सरोकार होना	एक धर्म के भिन्न पंथों के बीच समानता पर जोर देना
अल्पसंख्यक अधिकारों पर ध्यान देना।	समुदाय आधारित अधिकारों पर कम ध्यान देना
व्यक्ति और उसके अधिकारों को केंद्रीय महत्त्व दिया जाना	व्यक्ति और धार्मिक समुदायों दोनों के अधिकारों का संरक्षण

धर्मनिरपेक्षता

प्रश्नावली

3. धर्म निरपेक्षता से आप क्या समझते हैं? क्या इसकी बराबरी धार्मिक सहनशीलता से की जा सकती है।

4. क्या आप नीचे दिए गए कथनों से सहमत हैं? उनके समर्थन या विरोध के कारण भी दीजिए।
   (क) धर्मनिरपेक्षता हमें धार्मिक पहचान बनाए रखने की अनुमति नहीं देती है।
   (ख) धर्मनिरपेक्षता किसी धार्मिक समुदाय के अंदर या विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच असमानता के खिलाफ है।
   (ग) धर्मनिरपेक्षता के विचार का जन्म पश्चिमी और ईसाई समाज में हुआ है। यह भारत के लिए उपयुक्त नहीं है।

5. भारतीय धर्मनिरपेक्षता का जोर धर्म और राज्य के अलगाव पर नहीं वरन् उससे अधिक किन्ही बातों पर है। इस कथन को समझाइये।

6. 'सैद्धांतिक दूरी' क्या है? उदाहरण सहित समझाइये।

अध्याय 9

शांति

परिचय

युद्ध, आतंकवादी हमलों और गुटीय दंगों पर चीखती अखबारी रपटें हमें निरंतर याद दिलाती हैं कि हम अशांत समय में रहते हैं। वास्तविक शांति के दु:साध्य बने रहने की सूरत में यह शब्द अपने में काफी लोकप्रिय हो गया है। यह राजनेताओं, पत्रकारों, उद्योगपतियों, शिक्षाशास्त्रियों और सेनाधिकारियों के होठों से झरने के लिए हमेशा तैयार रहता है। इसका हवाला भी पाठ्यपुस्तकों, संविधानों, घोषणापत्रों और समझौतों समेत अनेक तरह के दस्तावेज़ों में प्यार से संजोए गए आदर्श मूल्य के रूप में दिया जाता है।

हर किसी को शांति का आह्वान और अनुसरण की बात करते देखने से हमें लग सकता है कि इस अवधारणा को और स्पष्ट करने की कोई ज़रूरत नहीं है। हालाँकि ऐसा है नहीं। जैसा कि हम आगे देखेंगे। शांति के विचार के प्रति दिखने वाली सहमति अपेक्षाकृत हाल-फिलहाल की ही बात है। साल दर साल शांति का अर्थ और महत्त्व काफी अंतर के साथ आंका गया है।

शांति के समर्थकों को कई सवालों का सामना करना पड़ता है-

- वस्तुत: शांति का अर्थ क्या है? और, आज की दुनिया में यह इतनी कमजोर क्यों है?
- शांति स्थापित करने के लिए क्या किया जा सकता है?
- क्या शांति स्थापित करने के लिए हम हिंसा का उपयोग कर सकते हैं?
- हमारे समाज में हिंसा बढ़ने के प्रमुख कारण क्या हैं?

इस अध्याय में हम इन्हीं कुछ सवालों की विस्तार से जाँच-पड़ताल करेंगे।

शांति

9.1 भूमिका

'लोकतंत्र', 'न्याय' और 'मानव अधिकारों' की तरह शांति का जुमला भी एक तकिया कलाम बन गया है। लेकिन हमें निश्चित ही याद रखना चाहिए कि शांति की वांछनीयता को लेकर यह ऊपरी आम सहमति अपेक्षाकृत हाल-फिलहाल की घटना है।

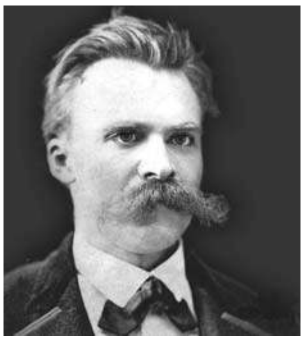

फ्रेडिरिक नीत्शे

अतीत के अनेक महत्त्वपूर्ण चिंतकों ने शांति के बारे में नकारात्मक ढंग से लिखा है। जर्मन दार्शनिक फ्रेडरिक नीत्शे युद्ध को महिमामंडित करने वाला विचारक था। नीत्शे ने शांति को महत्त्व नहीं दिया, क्योंकि उसका मानना था कि सिर्फ संघर्ष ही सभ्यता की उन्नति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। इसी तरह अन्य अनेक विचारकों ने शांति को बेकार बताया है और संघर्ष की प्रशंसा व्यक्तिगत बहादुरी और सामाजिक जीवंतता के वाहक के तौर पर की है। इटली के समाज- सिद्धांतकार विल्फ्रेडो पैरेटो (1848-1923) का दावा था कि अधिकतर समाजों में शासक वर्ग का निर्माण सक्षम और अपने लक्ष्यों को पाने के लिए ताकत का इस्तेमाल करने के लिए तैयार लोगों से होता है। उसने ऐसे लोगों का वर्णन शेर के रूप में किया है।

इसका मतलब यह जताना नहीं है कि शांति के सिद्धांत का कोई पक्षधर नहीं है। इसे तकरीबन सभी धार्मिक उपदेशों में केंद्रीय स्थान प्राप्त है। आधुनिक काल भी लौकिक और आध्यात्मिक, दोनों क्षेत्रों में शांति के प्रबल पैरोकारों का साक्षी रहा है। महात्मा गांधी का इनमें प्रमुख स्थान है। हालाँकि शांति के प्रति समकालीन आग्रह के निशान बीसवीं सदी के अत्याचारों में देखे जा सकते हैं। इन अत्याचारों के परिणामस्वरूप लाखों लोगों की मौत हुई। इनमें से कुछ घटनाओं के बारे में आपने इतिहास की पाठ्यपुस्तक में पढ़ा होगा जैसे - फासीवाद, नाजीवाद का उदय तथा विश्वयुद्ध। अपने पास-पड़ोस में भारत-पाकिस्तान और आज के बांग्लादेश के रूप में देश-विभाजन की त्रासदी का अनुभव हमने किया है।

उपर्युक्त विपदाओं में अभूतपूर्व पैमाने पर तबाही फैलाने में उन्नत तकनीक का प्रयोग भी शामिल रहा है। इस प्रकार, दूसरे विश्वयुद्ध में जर्मनी ने लंदन पर घनघोर बमबारी की और प्रतिक्रिया में अंग्रेज़ों ने 1000 बमवर्षकों को जर्मनी के नगरों पर हमला करने भेजा। युद्ध का अंत अमेरिका द्वारा जापानी नगरों, हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम गिराने से हुआ। इन दो हमलों में कम से कम 1,20,000 लोग तुरंत मारे गए और उससे भी कहीं अधिक लोग आण्विक विकरण के प्रभाव से मरे। करीब 95 प्रतिशत मृतक आम नागरिक थे।

युद्ध के बाद के दशकों में दुनिया में अपनी सर्वोच्चता कायम करने के लिए दो महाशक्तियों, पूंजीवादी अमेरिका और साम्यवादी सोवियत संघ के बीच प्रचंड प्रतिस्पर्धा का दौर चला। चूँकि परमाण्विक हथियार शक्ति के नए प्रतीक बन गए थे, इसलिए दोनों ने उनका बड़े पैमाने पर निर्माण और संचय शुरू किया। बढ़ती हुई इस सैनिक प्रतिद्वंद्विता में 1962 का

शांति

आओ कुछ करके सीखे

एदिता मॉरिस के उपन्यास 'हिरोशिमा के फूल' को पढ़िए। इसमें गौर कीजिए कि परमाणु बम का इस्तेमाल किस तरह से लंबे समय तक विभीषिका पैदा करता है।

क्यूबाई मिसाइल संकट एक उल्लेखनीय अशुभ प्रसंग है। इसका आरंभ तब हुआ जब अमेरिकी जासूसी विमानों ने अपने पड़ोसी देश क्यूबा में सोवियत संघ के आण्विक मिसाइल खोज निकाले। प्रतिक्रिया में अमेरिका ने क्यूबा की समुद्री सीमाओं की नाकेबंदी कर दी और सोवियत रूस को धमकी दी कि यदि ये मिसाइल नहीं हटाए गए तो वह उसके खिलाफ सैनिक कार्रवाई करेगा। आमने-सामने का यह टकराव तभी समाप्त हुआ जब सोवियत संघ ने अपने मिसाइल हटा लिए। दो सप्ताह तक चले इस संकट ने मानवता को संपूर्ण तबाही के कगार पर खड़ा कर दिया था।

अगर लोग आज शांति का गुणगान करते हैं, तो महज इसलिए नहीं कि वे इसे अच्छा विचार मानते हैं। शांति की अनुपस्थिति की भारी कीमत चुकाने के बाद मानवता ने इसका महत्व पहचाना है। त्रासद संघर्षों के प्रेत हमें लगातार कचोटते रहते हैं। आज जीवन अतीत के किसी भी समय से कहीं अधिक असुरक्षित है क्योंकि हर जगह के लोग आतंकवाद के बढ़ते खतरों का सामना कर रहे हैं। शांति लगातार बहुमूल्य इसलिए भी बनी हुई है कि इस पर खतरे का साया हमेशा मौजूद है।

9.2 शांति का अर्थ

शांति की परिभाषा अक्सर युद्ध की अनुपस्थिति के रूप में की जाती है। यह परिभाषा सरल तो है पर भ्रामक भी है। सामान्य रूप से हम युद्ध को देशों के बीच हथियारबंद संघर्ष समझते हैं। हालाँकि रवांडा या बोस्निया में जो हुआ वह इस तरह का युद्ध नहीं था। लेकिन यह एक प्रकार से शांति का उल्लंघन या स्थगन तो था ही। हालाँकि प्रत्येक युद्ध शांति के अभाव की ओर जाता है, लेकिन शांति का हर अभाव युद्ध का रूप ले यह ज़रूरी नहीं।

शांति की परिभाषा करने में दूसरा कदम होगा इसे युद्ध, दंगा, नरसंहार, कत्ल या सामान्य शारीरिक प्रहार समेत सभी प्रकार के हिंसक संघर्षों के अभाव के रूप में देखना। यह परिभाषा स्पष्ट ही पहली से बेहतर है। लेकिन यह भी हमें बहुत दूर नहीं ले जा पाती है। हिंसा प्रायः समाज की मूल संरचना में ही रची-बसी है। ऐसी सामाजिक संस्थाएँ और

टाइम्स ऑफ इंडिया- आर. के. लक्ष्मण

ज़रुर किसी पिछड़े हुए देश का है। उसने रोज़गार, शिक्षा, मकान की बातें की और अणु बम के बारे में एक शब्द भी नहीं।

शांति

प्रथाएँ जो जाति, वर्ग या लिंग के आधार पर असमानता की खाइयों को और गहरा करती है किसी की क्षति सूक्ष्म और अप्रकट तरीके से भी कर सकती हैं। जाति, वर्ग या लिंग पर आधारित इस स्तरीकरण को अगर शोषित वर्गों की ओर से कोई भी चुनौती मिलती है तो इससे भी संघर्ष और हिंसा पैदा हो सकती है। इस तरह की 'संरचनात्मक हिंसा' के बड़े पैमाने पर दुष्परिणाम हो सकते हैं। हम वैसी हिंसा से उत्पन्न कुछ ठोस उदाहरणों की ओर देखें – जैसे जातिभेद, वर्गभेद, पितृसत्ता, उपनिवेशवाद, नस्लवाद और सांप्रदायिकता।

संरचनात्मक हिंसा के विभिन्न रूप

परंपरागत जाति–व्यवस्था कुछ खास समूह के लोगों को अस्पृश्य मानकर बरताव करती थी। आज़ाद भारत के संविधान द्वारा गैरकानूनी करार दिए जाने तक छुआछूत के प्रचलन ने उन्हें सामाजिक बहिष्कार और अत्यधिक वंचना का शिकार बना रखा था। भयावह रीति–रिवाज़ों के इन जख्मों से उबरने के लिए देश अभी तक संघर्ष कर रहा है। हालाँकि वर्ग आधारित सामाजिक व्यवस्था अधिक लचीली दिखती है, लेकिन इसने भी काफी असमानता और उत्पीड़न को जन्म दिया है। विकासशील देशों की अधिकांश कामकाजी आबादी असंगठित क्षेत्र से संबद्ध है, जिसमें मेहनताना और काम की दशा बहुत खराब है। विकसित देशों में भी निम्नवर्गीय लोगों की अच्छी–खासी आबादी मौजूद है।

पितृसत्ता के आधार पर जिन सामाजिक संगठनों का निर्माण होता है, उनकी परिणति स्त्रियों को व्यवस्थित रूप से अधीन बनाने और उनके साथ भेदभाव करने में होती है। इसकी अभिव्यक्ति कन्या भ्रूणहत्या, लड़कियों को अपर्याप्त पोषण और शिक्षा न देना, बाल–विवाह, पत्नी को पीटना, दहेज से संबंधित अपराध, कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न, बलात्कार और 'घर की इज्जत' के नाम पर हत्या में होती है। भारत में निम्न लिंग अनुपात (प्रति 1,000 पुरुषों पर 933 स्त्रियाँ) पितृसत्तात्मक विध्वंस का मर्मस्पर्शी सूचक है।

अब ऐसा होना लगभग असंभव है कि उपनिवेशवाद विदेशी शासन के रूप में लोगों पर प्रत्यक्ष और लंबे समय के लिए गुलामी थोप दे। पर इजरायली प्रभुत्व के खिलाफ चालू फ़िलिस्तीनी संघर्ष दिखाता है कि इसका अस्तित्व पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। इसके अलावा, यूरोपीय उपनिवेशवादी देशों के पूर्ववर्ती उपनिवेशों को अभी भी बहुआयामी शोषण के उन प्रभावों से पूरी तरह उबरना शेष है, जिसे उन्होंने औपनिवेशिक काल में झेला।

रंगभेद और सांप्रदायिकता में एक समूचे नस्लगत समूह या समुदाय पर लांछन लगाना और उनका दमन करना शामिल रहता है। हालाँकि मानवता को विभिन्न नस्लों के आधार पर विभाजित कर सकने की अवधारणा वैज्ञानिक रूप से अप्रामाणिक है लेकिन कई बार इसका उपयोग मानव विरोधी कुकृत्यों को जायज ठहराने में किया ही जाता रहा है। 1865 तक अमेरिका में अश्वेत लोगों को गुलाम बनाने की प्रथा; हिटलर के समय जर्मनी में यहूदियों का कत्लेआम तथा दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार की 1992 तक अपनी बहुसंख्यक अश्वेत

चिंतन-मंथन

निम्न में से किस विचार से आप सहमत हैं और क्यों?

- सभी दुष्कर्म मन के कारण उपजते हैं। यदि मन रूपांतरित हो जाए तो क्या दुष्कर्म बने रह सकते हैं? –गौतम बुद्ध
- मैं हिंसा का विरोध करता हूँ क्योंकि जब यह कोई अच्छा कार्य करती प्रतीत होती है तब अच्छाई अस्थायी होती है जबकि इससे जो बुराई होती है वह स्थायी होती है। –महात्मा गांधी
- हम वैसे हों जिसकी आँखें हमेशा दुश्मन की तलाश में हों, ...हम शांति को नए-नए युद्धों का साधन मानकर उससे प्रेम करें और छोटी शांति को लंबी शांति से अधिक प्रेम करें। मैं तुम्हें काम करने की नहीं, जीतने की सलाह देता हूँ। तुम्हारा काम एक युद्ध हो, तुम्हारी शांति एक विजय हो। –फ्रेडरिक नीत्शे

आबादी के साथ दोयम दर्जे के नागरिकों जैसा व्यवहार करनेवाली रंगभेद की नीति इसके उदाहरण हैं। पश्चिमी देशों में नस्ली भेदभाव गोपनीय तौर पर अभी भी जारी है। अब इसका प्रयोग प्रायः एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के विभिन्न देशों के आप्रवासियों के खिलाफ होता है। सांप्रदायिकता को नस्लवाद का दक्षिण एशियाई प्रतिरूप माना जा सकता है जहाँ शिकार अल्पसंख्यक धार्मिक समूह होते हैं।

हिंसा का शिकार व्यक्ति जिन मनोवैज्ञानिक और भौतिक नुकसानों से गुजरता है वे उसके भीतर शिकायतों को पैदा करती हैं। ये शिकायतें पीढ़ियों तक कायम रहती हैं। ऐसे समूह कभी-कभी किसी घटना या टिप्पणी से भी उत्तेजित होकर संघर्षों के ताज़ा दौर की शुरुआत कर सकते हैं। दक्षिण एशिया में विभिन्न समुदायों द्वारा एक-दूसरे के खिलाफ लंबे समय से मन में रखी पुरानी शिकायतों के उदाहरण हमारे पास हैं, जैसे 1947 में भारत के विभाजन के दौरान भड़की हिंसा से उपजीं शिकायतें।

आतंकवाद के जन्म के कारण

न्यायपूर्ण और टिकाऊ शांति अप्रकट शिकायतों और संघर्ष के कारणों को साफ-साफ व्यक्त करने और बातचीत द्वारा हल करने के जरिए ही प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए भारत और पाकिस्तान के बीच की समस्याओं का हल करने के वर्तमान प्रयासों में हर तबके के लोगों के बीच अधिक संपर्क को प्रोत्साहित करना भी शामिल है।

हिंसा की समाप्ति

संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (यूनिसेफ) के संविधान ने उचित ही टिप्पणी की है कि, "चूँकि युद्ध का आरंभ

शांति

लोगों के दिमाग में होता है, इसलिए शांति के बचाव भी लोगों के दिमाग में ही रचे जाने चाहिए।" इस तरह के प्रयास के लिए करुणा जैसे अनेक पुरातन आध्यात्मिक सिद्धांत और ध्यान जैसे अभ्यास बिल्कुल उपयुक्त हैं। आधुनिक नीरोगकारी तकनीक और मनोविश्लेषण जैसी चिकित्सा पद्धतियां भी यह काम कर सकती हैं।

हमने गौर किया है कि हिंसा का आरंभ महज किसी व्यक्ति के दिमाग में नहीं होता; इसकी जड़ें कतिपय सामाजिक संरचनाओं में भी होती हैं। न्यायपूर्ण और लोकतांत्रिक समाज की रचना संरचनात्मक हिंसा को निर्मूल करने के लिए अनिवार्य है। शांति, जिसे संतुष्ट लोगों के समरस सह–अस्तित्व के रूप में समझा जाता है, ऐसे ही समाज की उपज हो सकती है। शांति एकबार में हमेशा के लिए हासिल नहीं की जा सकती है। शांति कोई अंतिम स्थिति नहीं बल्कि ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें व्यापकतम अर्थों में मानव कल्याण की स्थापना के लिए ज़रूरी नैतिक और भौतिक संसाधनों के सक्रिय क्रियाकलाप शामिल होते हैं।

आओ कुछ करके सीखे

नोबल शांति पुरस्कार पाने वाले कुछ लोगों का नाम लिखें। इनमें से किसी एक पर टिप्पणी भी लिखें।

9.3 क्या हिंसा कभी शांति को प्रोत्साहित कर सकती है?

अक्सर यह दावा किया जाता है कि हिंसा एक बुराई है लेकिन कभी–कभी यह शांति लाने की अपरिहार्य पूर्वशर्त जैसी होती है। यह तर्क दिया जा सकता है कि तानाशाहों और उत्पीड़कों को जबरन हटाकर ही उनको, जनता को निरंतर नुकसान पहुँचाने से रोका जा सकता है। या फिर, उत्पीड़ित लोगों के मुक्ति–संघर्षों को हिंसा के कुछ इस्तेमाल के बावजूद न्यायपूर्ण ठहराया जा सकता है। लेकिन अच्छे मकसद से भी हिंसा का सहारा लेना आत्मघाती हो सकता है। एक बार शुरू हो जाने पर इसकी प्रवृत्ति नियंत्रण से बाहर हो जाने की होती है और इसके कारण यह अपने पीछे मौत और बर्बादी की एक श्रृंखला छोड़ जाती है।

शांतिवादी का मकसद लड़ाकुओं की क्षमता को कम करके आंकना नहीं, प्रतिरोध के अहिंसक स्वरूप पर बल देना है। वैसे संघर्षों का एक प्रमुख तरीका सविनय अवज्ञा है और उत्पीड़न की संरचना की नींव हिलाने में इसका सफलतापूर्वक इस्तेमाल होता रहा है। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान गांधी जी द्वारा सत्याग्रह का प्रयोग एक प्रमुख उदाहरण है। गांधी जी ने न्याय को अपना आधार बनाया और विलायती शासकों के अंत:करण को आवाज़ दी। जब उससे काम नहीं चला तो उन पर नैतिक और राजनैतिक दबाव बनाने के लिए उन्होंने जनांदोलन आरंभ किया, जिसमें अनुचित कानूनों को अहिंसक ढंग से खुलेआम तोड़ना शामिल था। उनसे प्रेरणा लेकर मार्टिन लूथर किंग ने अमेरिका में काले लोगों के साथ भेदभाव के खिलाफ 1960 में इसी तरह का संघर्ष शुरू किया था।

शांति

नागरिक अवज्ञा के दबाव में अन्यायपूर्ण संरचनाएँ भी रास्ता दे सकती हैं। कभी-कभार वे अपनी विसंगतियों के बोझ से ध्वस्त भी हो सकती हैं। निरंकुश सोवियत व्यवस्था का विघटन इसका ताजा उदाहरण है। पर ऐसे सुखद नतीजे की गारंटी सभी मामलों में नहीं हो सकती। हिंसा की सहायता लेने का लालच तब अपरिहार्य हो जाता है। यह भी औचित्यपूर्ण शांति की खोज में अंतर्निहित विकट स्थिति का ही अंग है।

9.4 शांति और राज्यसत्ता

अक्सर तर्क दिया जाता है कि हर राज्य अपने को पूर्णत: स्वतंत्र और सर्वोच्च इकाई के रूप में देखता है। इससे अपने हितों को केवल अपने नजरिये से देखने और हर हालत में अपने हितों को बचाने और बढ़ाने की प्रवृत्ति जन्म लेती है। शांति का अनुसरण करने के लिए ज़रूरी होता है कि हम स्वयं को वृहत्तर मानवता के एक हिस्से के रूप में देखें। लेकिन इससे अलग राज्यों में लोगों में फर्क करके

चिंतन-मंथन

कंबोडिया में खमेर रूज का शासन क्रांतिकारी हिंसा के नुकसानदेह हो जाने की प्रकृति का दिल दहलाने वाला बहुत ही खास उदाहरण था। यह शासन पॉल पॉट के नेतृत्व में हुई बगाावत का नतीजा था, जिसमें उत्पीड़ित खेतिहरों की मुक्ति के लिए तत्पर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना का प्रयास किया गया था। इसने 1975 से 1979 तक कंबोडिया में आतंक का राज कायम कर दिया जिसमें लगभग 17 लाख लोग अर्थात् देश की आबादी के 21 प्रतिशत लोग मारे गए। यह पिछली शताब्दी की एक अत्यंत कष्टप्रद मानवीय त्रासदी है।

हो सकता है कि मनवांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अतिवादी आंदोलनों द्वारा व्यवस्थित हिंसा के प्रयोग का ऐसा ही नाटकीय और दहला देने वाला परिणाम शायद हमेशा नहीं हो। पर इस प्रक्रिया में यह प्राय: संस्थागत रूप धारण करता है और अपने परिणामस्वरूप बनी राजनीतिक व्यवस्था का पूर्ण अंग बन जाता है। ऐसा ही मामला नेशनल लिबरेशन फ्रंट का है, जिसने हिंसात्मक साधनों का इस्तेमाल कर अल्जीरिया के स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व किया। उसने अपने देश को फ्रांसीसी उपनिवेशवादियों के बोझ से 1962 में मुक्त तो कराया, लेकिन उसके शासन का जल्दी ही निरंकुशवाद में पतन हो गया। इसकी प्रतिक्रिया वहाँ इस्लामी रूढ़िवाद के उभार के रूप में हुई।

यही कारण है जिसके चलते शांति को सर्वोच्च मूल्य मानने वाले शांतिवादी किसी न्यायपूर्ण संघर्ष में भी हिंसा के इस्तेमाल के खिलाफ नैतिक रूप से खड़े होते हैं। वे भी उत्पीड़न से लड़ने की ज़रूरत को स्वीकार करते हैं। हालाँकि वे उत्पीड़नकारियों का दिल-दिमाग जीतने के लिए प्रेम और सत्य को बढ़ावा देने की वकालत करते हैं।

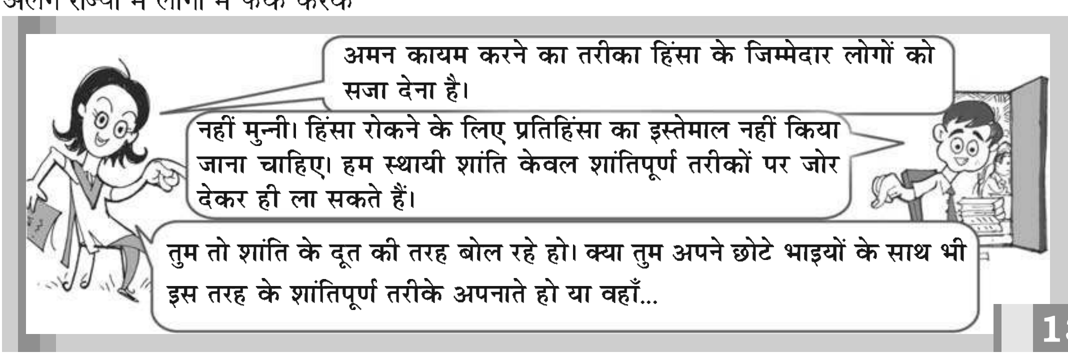

शांति

अहिंसा के बारे में गांधी जी के विचार

'मजबूरी का नाम महात्मा गांधी' कहावत आपने सुनी ही होगी। असहायता को अहिंसा और अहिंसा को गांधी के समतुल्य बताने की प्रवृत्ति ने कुछ लोगों को ऐसा कहने का मौका दिया है। इस हल्की टिप्पणी का आधार दूर-दूर तक फैला यह विचार है, कि अहिंसा कमज़ोरों का रास्ता है। गांधी जी ने बार-बार कहा कि इस विचार के लोग अहिंसा और उनके दर्शन को समझते ही नहीं हैं। हम आम तौर पर यही समझते हैं कि अहिंसा का अर्थ चोट करना नहीं है। अहिंसक कार्य उसे माना जाता है, जो शारीरिक घाव नहीं करे। गांधी जी ने इस अर्थ को दो मूलभूत तरीकों से बदल दिया। उनके लिए अहिंसा का अर्थ शारीरिक चोट, मानसिक चोट या आजीविका की क्षति से बाज आना भर नहीं है। इसका अर्थ किसी को नुकसान पहुँचाने के विचार तक को छोड़ देना है। उनके लिए 'हिंसा का निमित्त' होने का अर्थ स्वयं चोट करना नहीं होता। गांधी जी का मानना था कि 'यदि मैंने किसी को हानि पहुँचाने में किसी अन्य की सहायता की अथवा किसी हानिकर कार्य से लाभांवित हुआ तो मैं हिंसा का दोषी होऊँगा।' इस अर्थ में हिंसा के बारे में उनके विचार संरचनात्मक हिंसा की निशानदेही करते थे।

गांधी जी ने दूसरा प्रमुख परिवर्तन अहिंसा के विचार को सकारात्मक अर्थ देकर किया। किसी की हानि नहीं करना पर्याप्त नहीं है। अहिंसा को सजग संवेदना के माहौल की अपेक्षा होती है। गांधी जी निष्क्रिय आध्यात्मिकता के विरोधी थे। उनके लिए अहिंसा का मतलब कल्याण और अच्छाई का सकारात्मक और सक्रिय क्रियाकलाप है। इसलिए जो लोग अहिंसा का प्रयोग करते हैं, उनके लिए आवश्यक है कि अत्यंत गंभीर उकसावे की स्थिति में भी शारीरिक, मानसिक संयम रखने का अभ्यास करें। अहिंसा अतिशय सक्रिय शक्ति है, जिसमें कायरता और कमजोरी का कोई स्थान नहीं है। वास्तव में गांधी जी तो इस सीमा तक कह गए कि अगर अहिंसा किसी का बचाव करने के मामले में अपर्याप्त हो, तो उसके नाम पर निष्क्रियता की शरण में जाने के बजाए हिंसा का सहारा लेना बेहतर होगा। कुछ गांधीवादी कहते हैं कि प्रारंभ में उद्धृत कहावत को बदलकर 'मज़बूती का नाम महात्मा गांधी' कर देना चाहिए।

देखने की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है। अपने नागरिकों के हितों के नाम पर वे अक्सर बाकी लोगों को हानि पहुँचाने के लिए तैयार हो जाते हैं।

इसके अलावा आजकल हर राज्य ने बल प्रयोग के अपने उपकरणों को मज़बूत किया है। हालाँकि राज्य से अपेक्षा यह थी कि वह सेना या पुलिस का प्रयोग अपने नागरिकों की सुरक्षा के लिए करेगा लेकिन व्यवहार में इन शक्तियों का प्रयोग अपने ही नागरिकों के विरोध के स्वर को दबाने के लिए किया जा सकता है। विश्व अलग-अलग संप्रभु राष्ट्रों में विभाजित है। इससे शांति के रास्ते में अवरोध उत्पन्न होते हैं। यह निरंकुश शासन और म्यामांर जैसी सैनिक तानाशाही में सबसे अधिक स्पष्ट दिखता है।

समस्याओं का दीर्घकालिक समाधान सार्थक लोकतंत्रीकरण और अधिक नागरिक आज़ादी की एक कारगर पद्धति में है। इसके माध्यम से राज्यसत्ता को ज्यादा जवाबदेह

वाद-विवाद-संवाद

क्या आपको लगता है हिंसा का सहारा लेना कभी-कभी ज़रूरी हो सकता है? आखिरकार जर्मनी के नाजी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए बाहरी सैन्य-हस्तक्षेप करना पड़ा था।

शांति

बनाया जा सकता है। रंगभेद के खात्मे के बाद दक्षिण अफ्रीका में यही तरीका अपनाया गया है, जो हाल के वर्षों में राजनीतिक सफलता का एक प्रमुख उदाहरण है। इस प्रकार लोकतंत्र एवं मानवाधिकारों के लिए संघर्ष और शांति के सुरक्षित बने रहने के बीच घनिष्ठ संबंध है।

9.5 शांति कायम करने के विभिन्न तरीके

शांति स्थापित करने और बनाए रखने के लिए विभिन्न रणनीतियाँ अपनाई गई हैं। इन रणनीतियों को आकार देने में तीन प्रमुख दृष्टिकोणों ने मदद पहुँचाई है। पहला तरीका राष्ट्रों को केंद्रीय स्थान देता है, उनकी संप्रभुता का आदर करता है और उनके बीच प्रतिद्वंद्विता को जीवंत सत्य मानता है। उसकी मुख्य चिंता प्रतिद्वंद्विता के उपयुक्त प्रबंधन तथा संघर्ष की आशंका का शमन सत्ता–संतुलन की पारस्परिक व्यवस्था के माध्यम से करने की होती है। कहा जाता है कि वैसा एक संतुलन उन्नीसवीं सदी में प्रचलित था, जब प्रमुख यूरोपीय देशों ने संभावित आक्रमण को रोकने और बड़े पैमाने पर युद्ध से बचने के लिए अपने सत्ता–संघर्षों में गठबंधन बनाते हुए तालमेल किया।

दूसरा तरीका भी राष्ट्रों की गहराई तक जमी आपसी प्रतिद्वंद्विता की प्रकृति को स्वीकार करता है, लेकिन इसका जोर सकारात्मक उपस्थिति और परस्पर निर्भरता की संभावनाओं पर है। यह विभिन्न देशों के बीच विकासमान सामाजिक –आर्थिक सहयोग को रेखांकित करता है। अपेक्षा रहती है कि वैसे सहयोग राष्ट्र की संप्रभुता को नरम करेंगे और अंतर्राष्ट्रीय समझदारी को प्रोत्साहित करेंगे। परिणामस्वरूप वैश्विक संघर्ष कम होंगे, जिससे शांति की बेहतर संभावनाएँ बनेंगी। इस पद्धति के पैरोकारों द्वारा अक्सर

आओ कुछ करके सीखे

गाँधी के दक्षिण अफ्रीका, चंपारण में किए गए सत्याग्रह और नमक सत्याग्रह की पद्धति पर साम्रगी एकत्र करो। यदि संभव हो तो गिरिराज किशोर का उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' पढ़ो।

मार्टिन लूथर किंग जूनियर के नागरिक अधिकार आंदोलन के बारे में जानकारी खोजो। वह गाँधी से किस प्रकार प्रेरित थे।

एक मर्मभेदी असमंजस यह है कि अंतर्राष्ट्रीय फलक पर कई बार कुछ राष्ट्र अपने लक्ष्यों को हासिल करने के लिए हिंसात्मक साधनों का इस्तेमाल करते हैं, खासकर किसी भू-क्षेत्र अथवा प्राकृतिक संसाधन को हथियाने में। इसके परिणामस्वरूप होने वाला विवाद घमासान युद्ध में बदल सकता है। जैसे कि, 1990 में इराक ने अपने छोटे से पड़ोसी देश कुवैत पर धावा बोला। उसने हमले को न्यायोचित बताते हुए दावा किया कि कुवैती क्षेत्र एक इराकी भूखंड था, जिसे औपनिवेशिक शासकों ने मनमाने ढंग से अलग कर दिया था। उसने आरोप लगाया कि कुवैत उसके तेल–भंडारों में तिरछी खुदाई कर रहा है। आक्रमणकारियों को अंततः अमेरिका के नेतृत्व में साझा सैनिक अभियान द्वारा खदेड़ा गया। एक समर्थ विश्व सरकार के न होने की स्थिति में इस प्रकार के विवाद की आशंका का हर समय मौजूद रहना संभव है। हथियार उद्योग जैसे निहित स्वार्थों ने इसे तीव्र कर दिया है। हथियार उद्योग के लिए युद्ध लाभदायक स्थिति है।

दिया जाने वाला एक उदाहरण द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के यूरोप का है, जो आर्थिक एकीकरण से राजनीतिक एकीकरण की ओर बढ़ता गया है।

पहली दो पद्धतियों से भिन्न तीसरी पद्धति राष्ट्र आधारित व्यवस्था को मानव इतिहास की समाप्तप्राय अवस्था मानती है। यह अधिराष्ट्रीय व्यवस्था का मनोचित्र बनाती है और वैश्विक समुदाय के अभ्युदय को शांति की विश्वसनीय गारंटी मानती है। वैसे समुदाय के बीज राष्ट्रों की सीमाओं के आरपार बढ़ती आपसी अंत:क्रियाओं और संश्रयों में दिखते हैं जिसमें बहुराष्ट्रीय निगम और जनांदोलन जैसे विविध गैरसरकारी कर्त्ता शामिल हैं। इस तरीके के प्रस्तावक और समर्थक तर्क देते हैं कि वैश्वीकरण की चालू प्रक्रिया राष्ट्रों की पहले से ही घट गई प्रधानता और संप्रभुता को और अधिक क्षीण कर रही है, जिसके फलस्वरूप विश्व-शांति कायम होने की परिस्थिति तैयार हो रही है।

यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र तीनों ही पद्धतियों के प्रमुख तत्वों को साकार कर सकता है। सुरक्षा परिषद, जो स्थायी सदस्यता और पाँच प्रमुख राष्ट्रों को निषेधाधिकार (अन्य सदस्यों द्वारा समर्थित प्रस्ताव को भी गिरा देने का अधिकार) देता है, प्रचलित अंतराष्ट्रीय श्रेणीबद्धता को ही व्यक्त करता है। आर्थिक-सामाजिक परिषद अनेक क्षेत्रों में राष्ट्रों के बीच सहयोग को प्रोत्साहित करता है। मानवाधिकार आयोग अंतर्राष्ट्रीय मानदंडों को आकार देना और लागू करना चाहता है।

समकालीन चुनौतियाँ

हालाँकि संयुक्त राष्ट्र संघ ने अनेक उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हासिल की हैं, लेकिन शांति के प्रति खतरों को रोकने और समाप्त करने में वह सफल नहीं हुआ है। इसके बजाए दबंग राष्ट्रों ने अपनी संप्रभुता का प्रभावपूर्ण प्रदर्शन किया है और क्षेत्रीय सत्ता संरचना तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था को भी अपनी प्राथमिकताओं और धारणाओं के आधार पर बदलना चाहा है। इसके लिए उन्होंने सीधी सैनिक कार्रवाई का भी सहारा लिया है और विदेशी क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया है। ऐसे आचरण का ज्वलंत उदाहरण अफगानिस्तान और इराक में अमेरिका का ताजा हस्तक्षेप है। इससे उभरे युद्ध में बहुत सी जानें गई हैं।

आतंकवाद के उदय का एक कारण आक्रामक राष्ट्रों का स्वार्थपूर्ण आचरण भी है। प्राय: आधुनिक हथियारों और उन्नत तकनीक का दक्ष और निर्मम प्रयोग करके आतंकवादी इन दिनों शांति के लिए बड़ा खतरा पैदा कर रहे हैं। 11 सितंबर 2001 को इस्लामी आतंकवादियों द्वारा अमेरिका के न्यूयार्क स्थित विश्व व्यापार केंद्र का ध्वस्त किया जाना इस अमंगलकारी वास्तविकता की उल्लेखनीय अभिव्यक्ति है। इन ताकतों द्वारा अति विध्वंसक जैविक, रासायनिक अथवा परमाण्विक हथियारों के इस्तेमाल की आशंका दहला देने वाली है।

शांति

शांतिवाद

शांतिवाद विवादों को सुलझाने के औजार के बतौर युद्ध या हिंसा के बजाय शांति का उपदेश देता है। इसमें विचारों की अनेक छवियाँ शामिल हैं। इसके दायरे में कूटनीति को अंतर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान करने में प्राथमिकता देने से लेकर किसी भी हालत में हिंसा और ताकत के इस्तेमाल के पूर्ण निषेध तक आते हैं। शांतिवाद सिद्धांतों पर भी आधारित हो सकता है और व्यवहारिकता पर भी। सैद्धांतिक शांतिवाद का जन्म इस विश्वास से होता है कि युद्ध, सुविचारित घातक हथियार, हिंसा या किसी प्रकार की ज़ोर-ज़बरदस्ती नैतिक रूप से गलत है। व्यावहारिक शांतिवाद ऐसे किसी चरम सिद्धांत का अनुसरण नहीं करता है। यह मानता है कि विवादों के समाधान में युद्ध से बेहतर तरीके भी हैं या फिर यह समझता है कि युद्ध पर लागत ज्यादा आती है, फायदे कम होते हैं। युद्ध से बचने के पक्षधर लोगों के लिए 'श्वेत कपोत' जैसे अनौपचारिक शब्दों का प्रयोग होता है। शब्द सुलह-समझौते के पक्षधरों की सौम्य प्रकृति की ओर इशारा करते हैं। कुछ लोग सुलह-समझौते के पक्षधरों को शांतिवादी के दर्जे में नहीं रखते, क्योंकि वे कतिपय परिस्थितियों में युद्ध को औचित्यपूर्ण मान सकते हैं। 'बाज' या युद्ध-पिपासु लोग कपोत प्रकृति के विपरीत होते हैं। युद्ध का विरोध करने वाले कुछ शांतिवादी सभी प्रकार की ज़ोर-ज़बरदस्ती मसलन शारीरिक बल प्रयोग या संपत्ति की बर्बादी के विरोधी नहीं होते। उदाहरणस्वरूप, असैन्यवादी आम तौर पर हिंसा के बजाए आधुनिक राष्ट्र-राज्यों की सैनिक संस्थाओं के विशेष रूप से विरोधी होते हैं। अन्य शांतिवादी अहिंसा के सिद्धांतों का अनुसरण करते हैं, क्योंकि वे सिर्फ अहिंसक कार्रवाई के स्वीकार्य होने का विश्वास करते हैं।

विकिपीडिया नामक विश्वकोष से सार संक्षेप <http:www.wikipedia.orgpacifism

वैश्विक समुदाय धौंस जमाने वाली ताकतों की लोलुपता और आतंकवादियों की गुरिल्ला युक्तियों को रोकने में असफल है। वह अक्सर नस्ल-संहार अर्थात किसी समूचे जनसमूह के व्यवस्थित संहार का मूक दर्शक बना रहता है। यह खास करके रवांडा में साफ तौर पर दिखा। इस अफ्रीकी देश में 1994 में तकरीबन पाँच लाख तुत्सी लोगों को हुतू लोगों ने मार डाला। हत्याकांड के आरंभ होने के पहले खुफिया जानकारी उपलब्ध होने और इसके भड़कने पर अंतर्राष्ट्रीय मीडिया में घटना का विवरण आने के बावजूद कोई अंतर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप नहीं हुआ। संयुक्त राष्ट्र ने रवांडा के खून-खराबा को रोकने के लिए शांति अभियान चलाने से इनकार कर दिया।

इसका मतलब यह नहीं कि शांति एक चुका हुआ सिद्धांत है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जापान और कोस्टारिका जैसे देशों ने सैन्यबल नहीं रखने का फैसला किया। विश्व के अनेक हिस्सों में परमाण्विक हथियार से मुक्त क्षेत्र बने हैं, जहाँ आण्विक हथियारों को विकसित और तैनात करने पर एक अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त समझौते के तहत पाबंदी लगी है। आज इस तरह के छः क्षेत्र हैं जिसमें ऐसा हुआ है या इसकी प्रक्रिया चल रही है। इसका विस्तार दक्षिण ध्रुवीय क्षेत्र, लैटिन अमेरिका और कैरेबियन क्षेत्र, दक्षिण पूर्वी एशिया, अफ्रीका, दक्षिण प्रशांत क्षेत्र और मंगोलिया तक है। सोवियत संघ के 1991 में विघटन से अति शक्तिशाली देशों के बीच सैनिक प्रतिद्वंद्विता (खासकर परमाण्विक प्रतिद्वंद्विता) पर पूर्णविराम लग गया है और अंतराष्ट्रीय शांति के लिए प्रमुख खतरा समाप्त हो गया है।

शांति

आओ कुछ करके सीखे

कल्पना करें कि आपको शांति पर एक पुरस्कार प्रारंभ करना है। इस पुरस्कार का प्रतीक चिन्ह और डिजाइन बनाएँ। आपकी राय में 'शांति' के बारे में आपकी समझ को कौन-सा प्रतीक चिन्ह सबसे बेहतर ढंग से व्यक्त करता है? आप यह पुरस्कार किसे देना चाहेंगे और क्यों?

इसके अलावा, समकालीन युग शांति को बढ़ावा देने के लक्ष्य को लेकर होने वाली बहुतेरी लोकप्रिय पहलकदमियों का साक्षी बना है। इन सभी को प्राय: शांति आंदोलन कहा जाता है। पहले विश्वयुद्ध के कारण हुए विध्वंस ने इस आंदोलन को प्रेरित किया। यह तब से जोर पकड़ता गया है और राजनैतिक तथा भौगोलिक अवरोधों के बावजूद दुनिया में बड़े पैमाने पर इसने अनुयायी पैदा किए हैं। इस आंदोलन को विभिन्न तबके के लोगों ने बढ़ावा दिया है जिनमें लेखक, वैज्ञानिक, शिक्षक, पत्रकार, पुजारी, राजनेता और मज़दूर – सभी शामिल हैं। इसका लगातार विस्तार हुआ है और महिला सशक्तीकरण, पर्यावरण सुरक्षा जैसे अन्य आन्दोलनों के समर्थकों से पारस्परिक फायदेमंद जुड़ाव होने से यह और अधिक सघन हुआ है। इस आंदोलन ने शांति अध्ययन नामक ज्ञान की एक नई शाखा का भी सृजन किया है और इंटरनेट जैसे संप्रेषण के नए माध्यम का कारगर इस्तेमाल भी किया है।

वाद-विवाद-संवाद

समकालीन विश्व में परमाण्विक हथियार युद्ध रोकने में सहायक हैं।

निष्कर्ष

इस अध्याय में हमने शांति के विभिन्न पहलुओं इसके अर्थ, इसके सामने की बौद्धिक और व्यावहारिक चुनौतियों तथा इसके लक्षणों की तहकीकात की है। हमने देखा कि शांति के क्रियाकलापों में सद्‌भावनापूर्ण सामाजिक संबंध के सृजन और संवर्द्धन के अविचल प्रयास शामिल होते हैं, जो मानव कल्याण और खुशहाली के लिए प्रेरक होते हैं। शांति के मार्ग में अन्याय से लेकर उपनिवेशवाद तक अनेक अवरोध हैं, लेकिन उन्हें हटाने में बेलाग हिंसा के प्रयोग का लालच अनैतिक और अत्यधिक जोखिमपूर्ण, दोनों है। नस्ल-संहार, आतंकवाद और पूर्ण युद्ध के युग में, जो नागरिक और योद्धा के बीच की रेखा को धूमिल करता है, शांति की खोज को राजनीतिक कार्रवाइयों के साधन और साध्य, दोनों को ही रूपायित करना चाहिए।

प्रश्नावली

1. क्या आप जानते हैं कि एक शांतिपूर्ण दुनिया की ओर बदलाव के लिए लोगों के सोचने के तरीके में बदलाव ज़रूरी है? क्या मस्तिष्क शांति को बढ़ावा दे सकता है? और, क्या मानव मस्तिष्क पर केंद्रित रहना शांति स्थापना के लिए पर्याप्त है?
2. राज्य को अपने नागरिकों के जीवन और अधिकारों की रक्षा अवश्य ही करनी चाहिए। हालाँकि कई बार राज्य के कार्य इसके कुछ नागरिकों के खिलाफ हिंसा के स्रोत होते हैं। कुछ उदाहरणों की मदद से इस पर टिप्पणी कीजिए।
3. शांति को सर्वोत्तम रूप में तभी पाया जा सकता है जब स्वतंत्रता, समानता और न्याय कायम हो। क्या आप सहमत हैं?
4. हिंसा के माध्यम से दूरगामी न्यायोचित उद्देश्यों को नहीं पाया जा सकता। आप इस कथन के बारे में क्या सोचते हैं?
5. विश्व में शांति स्थापना के जिन दृष्टिकोणों की अध्याय में चर्चा की गई है उनके बीच क्या अंतर है?

अध्याय 10

विकास

परिचय

चित्र सरदार सरोवर नर्मदा निगम लि. से साभार

इस अध्याय में हम विकास की सामान्य समझ से चर्चा शुरू करेंगे और देखेंगे कि विकास की इस समझ ने क्या समस्याएँ पेश की हैं? बाद वाले खंडों में हम उन तरीकों को खोजेंगे जिनसे इन समस्याओं को हल किया जा सकता है। हम विकास के बारे में सोचने के कुछ वैकल्पिक तरीकों पर भी चर्चा करेंगे। इस अध्याय से गुज़रने के बाद आप–

- ‘विकास’ पद के अर्थ की व्याख्या,
- विकास के प्रचलित मॉडलों की उपलब्धियों और समस्याओं पर चर्चा और
- विकास के जो वैकल्पिक मॉडल पेश किए गए हैं उनमें से कुछेक पर चर्चा कर सकेंगे।

10.1 भूमिका

मान लें कि एक विद्यालय में प्रत्येक कक्षा की ओर से पाठ्यक्रम से इतर गतिविधि के तौर पर वार्षिक पत्रिका निकलती है। एक कक्षा में शिक्षक पिछले साल की पत्रिका को आदर्श मानता है और उसके अनुसार इस साल की पत्रिका की योजना बनाता है कि इसमें कौन से विषय, आलेख, कविता आदि होने चाहिए। उसके बाद वह विषयों का विभाजन कर विभिन्न छात्रों में लिखने के लिए विषय और जिम्मेवारियों का बँटवारा करता है। ऐसे में यह भी संभव है कि क्रिकेट में रुचि रखने वाली छात्रा को कोई अन्य विषय मिल जाए और जिसे क्रिकेट का जिम्मा दिया जाए, वह वास्तव में नाटक लिखने को उत्सुक हो। यह भी संभव है कि इस योजना के तहत तीन छात्र मिलकर कार्टूनों की एक श्रृंखला तैयार करना चाहते हों, मगर पाएँ कि उन्हें अलग-अलग समूहों में रख दिया गया है।

हालाँकि एक अन्य कक्षा में छात्रों के बीच पत्रिका की विषयवस्तु को लेकर बहस होती है। वहाँ अनेक असहमतियाँ होती हैं, लेकिन आखिर में सारे वाद-विवाद के बाद एक कार्यक्रम उभरता है जिस पर हर कोई सहमत है।

आपकी राय में कौन-सी कक्षा ऐसी पत्रिका निकाल पाएगी, जिसमें छात्रों की अपनी विशिष्ट रुचि सर्वोत्तम संभव तरीके से साकार होगी? पहली कक्षा शायद अच्छा दिखने वाली पत्रिका तैयार करे, पर क्या उसकी विषयवस्तु रोचक होगी? क्या जो व्यक्ति क्रिकेट पर लिखना चाहता था, उतने ही उत्साह के साथ दिए गए विषय पर लिख पाएगा? कौन-सी पत्रिका अनूठी मानी जाएगी और कौन-सी आदर्श? कौन-सी कक्षा महसूस करेगी कि पत्रिका पर काम करना रोचक था और कौन इसे महज रोजमर्रे के काम की तरह करेगी?

किसी समाज के लिए विकास से जुड़ी बातें तय करना वैसा ही है, जैसा छात्रों के लिए यह तय करना कि वे किस तरह की पत्रिका चाहते हैं और उन्हें पत्रिका पर कैसे काम करना चाहिए। हम या तो किसी दूसरे देश में इस्तेमाल किए गए मॉडल का यांत्रिक रूप से अनुकरण कर सकते हैं या पूरे समाज की भलाई और विकास परियोजनाओं से पर प्रभावित लोगों के अधिकारों को ध्यान में रखते हुए योजना बना सकते हैं। नेतागण लोगों के विरोध की परवाह न करते हुए विकास परियोजनाओं को पूरा करने का निर्णय कर सकते हैं या वे लोगों को साथ लेते हुए लोकतांत्रिक तरीके से आगे बढ़ सकते हैं।

'विकास' शब्द अपने व्यापकतम अर्थ में उन्नति, प्रगति, कल्याण और बेहतर जीवन की अभिलाषा के विचारों का वाहक है। कोई समाज विकास के बारे में अपनी समझ के द्वारा यह स्पष्ट करता है कि समाज के लिए समग्र रूप से उसकी दृष्टि क्या है और उसे प्राप्त करने का बेहतर तरीका क्या है? हालाँकि, विकास शब्द का प्रयोग प्रायः आर्थिक विकास की दर में वृद्धि और समाज का आधुनिकीकरण जैसे संकीर्ण अर्थों में भी होता रहता है। दुर्भाग्य से विकास को आमतौर पर पहले से निर्धारित लक्ष्यों या बाँध, उद्योग,

विकास

अस्पताल जैसी परियोजनाओं को पूरा करने से जोड़कर देखा जाता है। विकास का काम समाज के व्यापक नज़रिए के अनुसार नहीं होता है। इस प्रक्रिया में समाज के कुछ हिस्से लाभान्वित होते हैं जबकि बाकी लोगों को अपने घर, जमीन, जीवन शैली को बिना किसी भरपाई के खोना पड़ सकता है।

क्या विकास के क्रम में लोगों के अधिकारों का सम्मान किया गया, क्या विकास के लाभ और बोझ का उचित वितरण हुआ या विकास की प्राथमिकताओं के बारे में फैसले लोकतांत्रिक तरीके से लिए गए? ऐसे मुद्दे अनेक देशों में उठाए जा रहे हैं। इसलिए विकास अच्छा-खासा विवाद का विषय बन गया है। विभिन्न देशों द्वारा अपनाए गए विकास के मॉडल बहस और आलोचना के विषय बन गए हैं और वैकल्पिक मॉडल पेश किए जा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में विकास की व्यापक समझ एक ऐसे मानक की भूमिका निभा सकती है, जिससे किसी देश में विकास के अनुभव को जाँचा जा सकता है।

10.2 विकास की चुनौतियाँ

विकास की अवधारणा ने बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में महत्त्वपूर्ण सफलता हासिल की। उस समय एशिया और अफ्रीका के बहुत से देशों ने राजनीतिक आजादी हासिल की थी। अधिकतर देश कंगाल बना दिए गए थे और उनके निवासियों का जीवन-स्तर निम्न था। शिक्षा, चिकित्सा और अन्य सुविधाएँ कम थीं। इन्हें अक्सर 'अविकसित' या 'विकासशील' कहा जाता था। उनका मुकाबला पश्चिमी यूरोप के अमीर देशों और अमेरिका से था।

1950 और 1960 के दशक में, जब अधिकतर एशियाई व अफ्रीकी देशों ने औपनिवेशिक शासन से आज़ादी हासिल की। तब उनके सामने सबसे महत्त्वपूर्ण काम गरीबी, कुपोषण, बेरोजगारी, निरक्षरता, और बुनियादी सुविधाओं के अभाव की निहायत ज़रूरी समस्याओं का समाधान करना था जिसे उनकी बहुसंख्यक आबादी भुगत रही थी। उनका तर्क था कि वे पिछड़े इसलिए हैं कि औपनिवेशिक शासन में उनके संसाधनों का उपयोग उनके फायदे के लिए नहीं उपनिवेशवादियों के फायदे के लिए होता था। स्वतंत्रता के द्वारा वे अपने संसाधनों का उपयोग अपने राष्ट्रीय हित में सर्वश्रेष्ठ तरीके से कर सकते हैं। इस प्रकार अब उनके लिए वैसी नीतियाँ बनाना संभव था, जिनसे वे अपने पिछड़ेपन से उबर सकें और पूर्ववर्ती औपनिवेशिक मालिकों के स्तर को हासिल करने की ओर बढ़ सकें। इस बोध ने इन देशों को विकास परियोजनाएँ शुरू करने की प्रेरणा दी।

विकास की अवधारणा विगत वर्षों में काफी बदली है। आरंभिक वर्षों में जोर आर्थिक उन्नति और समाज के आधुनिकीकरण के रूप में पश्चिमी देशों के स्तर तक पहुँचने पर था। विकासशील देशों ने औद्योगीकरण, कृषि और शिक्षा के आधुनिकीकरण एवं विस्तार के जरिए तेज आर्थिक उन्नति का लक्ष्य निर्धारित किया था। उस समय यह माना जाता था

कि इस तरह के सामाजिक और आर्थिक बदलाव को शुरू करने में केवल राजसत्ता ही सक्षम माध्यम है। अनेक देशों ने विकास की महत्त्वाकांक्षी योजनाओं का सूत्रपात किया। ऐसा प्राय: विकसित देशों की मदद और कर्ज के जरिए किया गया।

पचास के दशक से प्रारंभ करते हुए भारत में विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाओं की एक श्रृंखला बनी और इनमें भाखड़ा नंगल बांध, देश के विभिन्न हिस्सों में इस्पात संयंत्रों की स्थापना, खनन, उर्वरक उत्पादन और कृषि तकनीकों में सुधार जैसी अनेक वृहत परियोजनाएँ शामिल थीं। उम्मीद की गई कि यह बहुआयामी रणनीति आर्थिक रूप से प्रभावकारी होगी और देश की संपदा में महत्त्वपूर्ण बढ़ोतरी होगी। यह उम्मीद भी की गई कि इस बढ़ोतरी से आने वाली संपन्नता धीरे-धीरे समाज के सबसे गरीब तबके तक रिसकर पहुँचेगी और असमानता को कम करने में सहायक होगी। विज्ञान की ताजातरीन खोजों को अपनाने और नवीनतम तकनीकों पर काफी विश्वास किया गया था। भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान जैसे नए शैक्षणिक संस्थान स्थापित किए गए और उन्नत देशों के ज्ञान तक पहुँचने के लिहाज से उनके साथ सहयोग करने को उच्च प्राथमिकता मिली। यह विश्वास किया गया कि विकास की प्रक्रिया समाज को अधिक आधुनिक और प्रगतिशील बनाएगी और उसे उन्नति के पथ पर ले जाएगी।

अगर वह परियोजना शुरू हो गई तो हम लोग बर्बाद हो जाएँगे।

टाइम्स ऑफ इंडिया में आर.के. लक्ष्मण

विकास का जो मॉडल भारत और अन्य देशों द्वारा अपनाया गया, उसकी विगत वर्षों में बहुत अधिक आलोचना हुई है और इसने विकास के लक्ष्यों और प्रक्रियाओं के बारे में कुछ पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित किया है।

10.3 विकास के मॉडल की आलोचनाएँ

विकास के आलोचकों ने ध्यान दिलाया है कि बहुत से देशों में जिस तरीके से विकास मॉडल को अपनाया गया है वह विकासशील देशों के लिए काफी मंहगा साबित हुआ है। इसमें वित्तीय लागत बहुत अधिक रही और अनेक देश दीर्घकालीन कर्ज से दब गए।

अफ्रीका अभी तक अमीर देशों से लिए गए भारी कर्ज तले कराह रहा है। विकास के रूप में उपलब्धि, लिए गए कर्ज के अनुरूप नहीं रही और दरिद्रता एवं रोगों ने अभी भी महाद्वीप को अपनी चपेट में ले रखा है।

विकास की वह कीमत जो समाज को चुकानी पड़ी

विकास के इस मॉडल के कारण बहुत बड़ी सामाजिक कीमत भी चुकानी पड़ी। अन्य चीज़ों के अलावा बड़े बाँधों के निर्माण, औद्योगिक गतिविधियों और खनन कार्यों की वजह से बड़ी संख्या में लोगों का उनके घरों और क्षेत्रों से विस्थापन हुआ। विस्थापन का परिणाम आजीविका खोने और दरिद्रता में वृद्धि के रूप में सामने आया है। अगर ग्रामीण खेतिहर समुदाय अपने परंपरागत पेशे और क्षेत्र से विस्थापित होते हैं, तो वे समाज के हाशिए पर चले जाते हैं। बाद में वे शहरी और ग्रामीण गरीबों की विशाल आबादी में शामिल हो जाते हैं। लंबी अवधि में अर्जित परंपरागत कौशल नष्ट हो जाते हैं। संस्कृति का भी विनाश होता है, क्योंकि जब लोग नई जगह पर जाते हैं, तो वे अपनी पूरी सामुदायिक जीवन-पद्धति खो बैठते हैं। ऐसे विस्थापनों ने अनेक देशों में संघर्षों को जन्म दिया है।

आओ कुछ करके सीखे

किसी ऐसे इलाके के बारे में जानकारी एकत्र करो जहाँ विकास की कोई बड़ी परियोजना (बाँध, सड़क, रेलवे लाइन या किसी उद्योग का निर्माण) चल रही हो। क्या वहाँ उस परियोजना के खिलाफ कोई विरोध या शिकायत रही है? विरोधियों द्वारा क्या मुद्दे उठाए गए हैं। इन मुद्दों के प्रति सरकार का जवाब क्या रहा? कुछ विरोधियों और कुछ सरकारी अधिकारियों से मिलकर दोनों पक्षों की जानकारी एकत्र करो।

विस्थापित लोगों ने अपनी इस नियति को हमेशा निष्क्रियता से स्वीकार नहीं किया। आपने 'नर्मदा बचाओ आंदोलन के बारे में सुना होगा यह नर्मदा नदी पर सरदार सरोवर परियोजना के तहत बनने वाले बाँधों के निर्माण के खिलाफ आंदोलन चला रहा है। बड़े बाँधों के इन समर्थकों का दावा है कि इससे बिजली पैदा होगी, काफी बड़े इलाके में जमीन की सिंचाई में मदद मिलेगी और सौराष्ट्र व कच्छ के रेगिस्तानी इलाके को पेयजल भी उपलब्ध होगा। बड़े बाँधों के विरोधी इन दावों का खंडन करते हैं। इसके अलावा अपनी जमीन के डूबने और उसके कारण अपनी आजीविका के छिनने से दस लाख से अधिक लोगों के विस्थापन की समस्या पैदा हो गई है। इनमें से अधिकांश लोग जनजाति या दलित समुदायों के हैं, और देश के अति-वंचित समूहों में आते हैं। इसके अतिरिक्त यह तर्क भी दिया जाता है कि विशाल जंगली भूभाग भी बाँध में डूब जाएगा जिससे पारिस्थितिकी का संतुलन बिगड़ेगा।

विकास की वह कीमत जो पर्यावरण को चुकानी पड़ी

वास्तव में विकास की वजह से अनेक देशों में पर्यावरण को बहुत ज़्यादा नुकसान पहुँचा है और इसके परिणामों को विस्थापित लोग ही नहीं, पूरी आबादी महसूस करने लगी है।

जब दक्षिणी और दक्षिण पूर्वी एशिया के तटों पर सुनामी ने कहर ढाया, तो यह देखा गया कि तटीय वनों के नष्ट होने और समुद्र तट के निकट वाणिज्यिक उद्यमों के स्थापित होने के कारण ही नुकसान इतना अधिक हुआ। आपने भूमंडल के ताप बढ़ने के बारे में ज़रूर पढ़ा होगा? वायुमंडल में ग्रीन हाऊस गैसों के उत्सर्जन की वजह से आर्कटिक और अंटार्कटिक ध्रुवों पर बर्फ पिघल रही है। यह बाढ़ लाने और बांग्लादेश एवं मालदीव जैसे निम्न भूमि वाले इलाके को तो डुबो देने में सक्षम है।

आने वाले दौर में पारिस्थितिकी-संकट से हम बुरी तरह प्रभावित होंगे। वायु प्रदूषण एक ऐसी समस्या है, जो अमीर और गरीब में फर्क नहीं करता है। लेकिन संसाधनों के अविवेकशील उपयोग का वंचितों पर तात्कालिक और अधिक तीखा प्रभाव पड़ेगा। जलावन, जड़ी-बूटी और आहार आदि के रूप में जंगल के संसाधनों का अपने गुजारे के लिए विविध प्रकार से उपयोग करने वाले गरीबों पर जंगलों के नष्ट होने से बहुत बुरा असर पड़ता है। नदियों-तालाबों के सूखने और भूमिगत जलस्तर के गिरने का अर्थ है कि औरतों को पानी लाने के लिए अधिक दूर चलना पड़ेगा।

हम विकास के जिस मॉडल का अनुकरण कर रहे हैं, वह ऊर्जा के उत्तरोत्तर बढ़ते उपयोग पर बुरी तरह निर्भर है। विश्व में प्रयुक्त ऊर्जा का अधिकांश भाग कोयला या पेट्रोलियम जैसे स्रोतों से आता है, जिनको पुनः प्राप्त करना संभव नहीं है। उपभोक्ताओं की बढ़ी ज़रूरतों को पूरा करने में अमेजन के बरसाती जंगलों का विशाल भूभाग उजड़ता जा रहा है। क्या ये अनवीकृत संसाधन इतनी मात्रा में हैं कि विकसित देशों के ही नहीं, बल्कि दुनिया भर के लोग समृद्ध जीवन पद्धति अपना सकें? इन संसाधनों की परिमित प्रकृति को देखते हुए उत्तर नकारात्मक ही होगा। तब आगामी पीढ़ियों का क्या होगा? क्या उन्हें हम एक संसाधन रहित पृथ्वी और ढेर सारी समस्याएँ सौंपने जा रहे हैं?

विकास का मूल्यांकन

यह नहीं कहा जा सकता कि दुनिया पर विकास का नकारात्मक प्रभाव ही पड़ा है। कुछ देशों ने अपनी आर्थिक उन्नति की दर बढ़ाने, यहाँ तक कि गरीबी घटाने में भी कुछ सफलता हासिल की है। लेकिन कुल मिलाकर असमानताओं में गंभीर कमी नहीं आई है और विकासशील जगत में गरीबी लगातार एक समस्या बनी हुई है। हमने पहले ही देखा कि यह मान लिया गया था कि उन्नति के फायदे नीचे की ओर रिस-रिसकर समाज के सर्वाधिक निर्धन एवं वंचित तबकों तक पहुँचेंगे और फलस्वरूप सभी के जीवन स्तर में सुधार आएगा। हालाँकि विगत वर्षों में दुनिया में अमीर और गरीब के बीच की दूरी बढ़ती

विकास

केन सारो वीवा

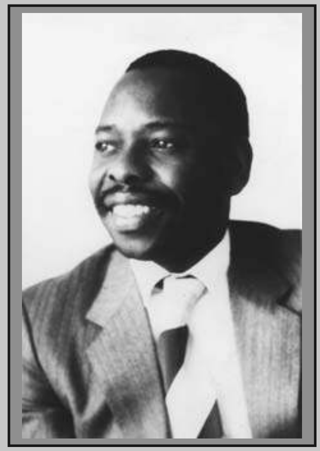

ज़रा कल्पना कीजिए कि आपके घर के पिछवाड़े में एक छुपा हुआ खजाना मिला है। आपको कैसा लगेगा अगर उस सारे खजाने को सत्ताधारी लोग विकास के नाम पर थोड़ा-थोड़ा करके ले जाते हैं। इस विकास का आपके जीवन-स्तर या आवास-स्थल की उसकी सुविधाओं पर फायदेमंद असर बिल्कुल नहीं पड़ता। और तो और जो लोग विकास के नाम पर उस खजाने पर दावा करते हैं, खजाने की जगह होने के नाते आपके घर पर लगातार उखाड़-पछाड़ करते रहते हैं। क्या यह उन लोगों के प्रति घोर अन्याय नहीं है जिनके घर में खजाना पाया गया।

1950 में नाइजीरिया के ओगोनी प्रांत में तेल पाया गया, जिसका परिणाम कच्चे तेल की खोज में हुआ। जल्दी ही आर्थिक वृद्धि और बड़े व्यापार के दावेदारों ने ओगोनी के चारों ओर राजनीतिक षड्यंत्र, पर्यावरणीय समस्याओं और भ्रष्टाचार का घना जाला बुन दिया। इसने उसी क्षेत्र के विकास को रोक दिया जहाँ तेल मिला था।

केन सारो वीवा जन्म से एक ओगोनीवासी थे और 1980 के दशक में एक लेखक पत्रकार एवं टेलीविजन निर्माता के रूप में जाने जाते थे। अपने काम के दौरान उन्होंने देखा कि तेल और गैस उद्योग ने गरीब ओगोनी किसानों के पैरों के नीचे दबे खजाने को लूट लिया और बदले में उनकी जमीन को प्रदूषित तथा स्वयं किसानों को बेघर कर दिया। सारो वीवा ने अपने चारों ओर होने वाले इस शोषण पर प्रतिक्रिया दर्ज की।

सारो वीवा ने 1990 में एक खुले, जमीनी और समुदाय पर टिके हुए राजनीतिक आंदोलन द्वारा अहिंसक संघर्ष का नेतृत्व किया। आंदोलन का नाम 'मूवमेंट फॉर सरवाइवल ऑफ ओगोनी पीपल' (ओगोनी लोगों के अस्तित्व के लिए आंदोलन) था। आंदोलन इतना असरदार हुआ कि तेल कंपनियों को 1993 तक ओगोनी से वापिस भागना पड़ा। लेकिन सारो वीवा को इसकी कीमत चुकानी पड़ी। नाइजीरिया के सैनिक शासकों ने उसे एक हत्या के मामले में फंसा दिया और सैनिक न्यायाधिकरण ने उसे फाँसी की सजा सुना दी। सारो वीवा का कहना था कि सैनिक ऐसा 'शैल' नामक उस बहुराष्ट्रीय तेल कंपनी के दबाव में कर रहे हैं जिसे ओगोनी से भागना पड़ा था। दुनिया भर के मानवाधिकार संगठनों ने इस मुकदमे का विरोध किया और सारो वीवा को छोड़े जाने का आह्वान किया। विश्व-व्यापी विरोध की अवहेलना करते हुए नाइजीरिया के शासकों ने 1995 में सारो वीवा को फाँसी पर चढ़ा दिया।

ही गई है। किसी देश में उन्नति की दर ऊँची हो सकती है, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि इसका लाभ सबको समान रूप से मिल ही जाय। जब तक आर्थिक उन्नति और पुनर्वितरण साथ-साथ नहीं चलते तब तक पहले से ही समृद्ध लोगों द्वारा लाभ पर कब्जा जमाने की गुंजाइश अधिक रहेगी।

इस बात को अब उत्तरोत्तर अधिक स्वीकृति मिल रही है कि विकास की व्यापक अवधारणा को अपनाने की ज़रूरत है। आर्थिक उन्नति पर अत्यधिक ध्यान होने से अनेक प्रकार की समस्याएँ ही नहीं बढ़ी हैं, आर्थिक उन्नति भी हमेशा संतोषजनक नहीं रही है। इसलिए विकास को अब व्यापक अर्थ में ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखा जा रहा है, जो सभी लोगों के जीवन की गुणवत्ता में वृद्धि करे।

यदि विकास की ऐसी प्रक्रिया को समझा जाय जिसका लक्ष्य लोगों के जीवन की गुणवत्ता में वृद्धि हो, तो यह तर्क दिया जा सकेगा कि विकास को केवल आर्थिक उन्नति के सूचकांक की दर के जरिए मापना अपर्याप्त और कई बार भ्रामक भी हो सकता है। अब विकास को मापने के वैकल्पिक तरीके खोजे जा रहे हैं। इसी तरह का एक प्रयास 'मानव विकास प्रतिवेदन' है, जिसे संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (यू.एन.डी.पी.) वार्षिक तौर पर प्रकाशित करता है। इस प्रतिवेदन में साक्षरता और शैक्षिक स्तर, आयु संभाविता और मातृ-मृत्यु दर जैसे विभिन्न सामाजिक संकेतकों के आधार पर देशों का दर्जा निर्धारित किया जाता है। इस उपाय को मानव विकास सूचकांक कहा गया। इस अवधारणा के अनुसार विकास को ऐसी प्रक्रिया होना चाहिए, जो अधिकाधिक लोगों को उनके जीवन में अर्थपूर्ण तरीके से

पर्यावरणवाद

आपने अकसर प्रदूषण, अवशिष्ट प्रबंधन, टिकाऊ विकास, दुर्लभ प्राणियों का संरक्षण और भूमंडलीय तापन जैसे शब्द सुने होंगे। ये पर्यावरण आंदोलन के पसंदीदा शब्द हैं, जो प्राकृतिक संसाधनों और पारिस्थितिकी तंत्र को बचाने में कारगर होते है। पर्यावरणविदों का कहना है कि मानव को पारिस्थितिकी के सुर से सुर मिलाते हुए जीना सीखना चाहिए और पर्यावरण में अपने तात्कालिक हितों के लिए छेड़छाड़ करना बंद करना चाहिए। उनका मानना है कि पृथ्वी का इस सीमा तक उपभोग रहा है और प्राकृतिक साधनों को इस तरह नष्ट किया जा रहा है कि हम आने वाली पीढ़ियों के लिए केवल उजाड़ धरती, जहरीली नदियाँ और प्रदूषित हवा ही छोड़कर जाएँगे।

पर्यावरणवाद की जड़ें औद्योगीकरण के खिलाफ 19वीं सदी में विकसित हुए विद्रोह में देखी जा सकती है। आजकल पर्यावरण आंदोलन एक विश्वव्यापी मामला बन गया है और इसके गवाह हैं दुनियाभर में फैले हज़ारों गैर सरकारी संगठन और बहुत सी 'ग्रीन' पार्टियाँ। कुछ जाने माने पर्यावरण संगठनों में ग्रीनपीस और वर्ल्ड वाइल्ड-लाइफ फंड शामिल हैं। भारत में भी हिमालय के वन क्षेत्र को बचाने के लिए 'चिपको आंदोलन' का जन्म हुआ। ऐसे समूह पर्यावरण उद्देश्यों की रोशनी में सरकार की औद्योगिक एवं विकास नीतियों को बदलने के लिए दवाब डालने का प्रयास करते हैं।

विकल्पों को चुनने की अनुमति दे। इसकी पूर्व शर्त है कि आहार, शिक्षा, स्वास्थ्य और आश्रय जैसी बुनियादी ज़रूरतों की पूर्ति हो। इसे 'बुनियादी आवश्यकता पर आधारित दृष्टिकोण' कहा जाता है। 'रोटी, कपड़ा और मकान,' गरीबी हटाओ' या 'बिजली, सड़क, पानी' जैसे लोकप्रिय नारे इस भावना का संप्रेषण करते हैं कि बुनियादी ज़रूरतों की पूर्ति के बगैर किसी व्यक्ति के लिए गरिमामय जीवन गुजारना और अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना असंभव है। अभाव अथवा वंचनाओं से मुक्ति ही किसी व्यक्ति की पसंदगी और इच्छाओं की पूर्ति की कुंजी है। इस विचार से यदि लोग भोजन या आश्रय के अभाव में भूख या ठंड से मरते हैं अथवा बच्चे विद्यालय जाने के बजाए काम कर रहे हैं, तो यह देश के अविकसित होने का ही सूचक है।

10.4 विकास की वैकल्पिक अवधारणा

अध्याय के पहले हिस्सों में विकास के उस मॉडल की कुछ सीमाओं की चर्चा की गई, जिसका अनुसरण अब तक किया गया है। इसके लिए मानव और पर्यावरण, दोनों के लिहाज से भारी कीमत चुकानी पड़ी है। विकास नीतियों के कारण जो कीमत चुकानी पड़ी है उसका और विकास के फायदों का वितरण भी लोगों के बीच असमान रूप से हुआ है। अधिकतर देशों में विकास की 'ऊपर से नीचे' की रणनीतियाँ अपनाई गई हैं, अर्थात विकास की प्राथमिकताओं व रणनीतियों का चयन और परियोजनाओं के वास्तविक कार्यान्वियन के सभी फ़ैसले आम तौर पर राजनीतिक नेतृत्व और नौकरशाही के उच्चतर स्तरों पर होते हैं। जिन लोगों के जीवन पर विकास योजनाओं का तत्काल असर पड़ता है, आमतोर पर उनसे तनिक भी सलाह नहीं ली जाती है। न तो सदियों से हासिल उनके अनुभवों और ज्ञान का उपयोग किया जाता है, न ही उनके हितों का ध्यान रखा जाता है। यह लोकतांत्रिक देशों के लिए भी उतना ही सच है, जितना तानाशाही के अधीन देशों के लिए। इस तरह विकास, परियोजनाओं से फायदा उठाने वाले सत्ताधारी तबकों द्वारा तैयार और लागू प्रक्रिया

चिंतन-मंथन

नवीनतम मानव विकास रिपोर्ट से मानव विकास सूचकांक के बारे में सूचनाएँ चार्ट और तालिकाएँ एकत्र करो। कक्षा में विभिन्न समूह बनाकर नीचे दिए गए विषयों पर एक प्रस्तुति करो–

- ☐ मानव विकास सूचकांक में भारत का बदलता हुआ स्थान।
- ☐ अपने पड़ोसी देशों की तुलना में भारत का स्थान।
- ☐ मानव विकास सूचकांक के विभिन्न पहलू और हरेक में भारत का स्कोर।
- ☐ भारत के मानव विकास सूचकांक के आँकड़ों की आर्थिक वृद्धि के आँकड़ों से तुलना करो।

बन जाता है। इसने न्यायपूर्ण और टिकाऊ विकास के बारे में वैकल्पिक तरीके से सोचने और आगे बढ़ाने की ज़रूरत को रेखांकित किया है। इस प्रक्रिया में अधिकार, समानता, आज़ादी, न्याय और लोकतंत्र जैसे सभी मुद्दे उठाए गए हैं। इस भाग में हम तहकीकात करेंगे, कि इन धारणाओं ने विकास–विमर्श के संदर्भ में कैसे नए अर्थ हासिल कर लिए हैं?

अधिकारों के दावे

हमने गौर किया है कि विकास के अधिकांश फायदों को ताकतवर लोगों ने कैसे हथिया लिया है और विकास की कीमत अति दरिद्रों और आबादी के असुरक्षित हिस्से को चुकानी पड़ती है। चाहे यह कीमत पारिस्थितिकी तंत्र में नुकसान की वजह से हो या विस्थापन और आजीविका खोने की वजह से। एक मुद्दा यह उठाया गया है कि प्रभावित आबादी कुल मिलाकर किन संरक्षणों का दावा राज्य और समाज से कर सकती है? क्या लोकतंत्र में लोगों को यह अधिकार है कि उनके जीवन को प्रभावित करने वाले निर्णयों में उनसे सलाह ली जाए। क्या लोगों को आजीविका का अधिकार है जिसका दावा वे सरकार से अपनी आजीविका के स्रोत पर खतरा पैदा होने पर कर सकते हैं? एक दूसरा मामला नैसर्गिक संसाधनों पर अधिकार का है। क्या समुदाय नैसर्गिक संसाधनों के उपयोग के परंपरागत अधिकारों का दावा कर सकते हैं? यह विशेष रूप से आदिवासी और आदिम समुदायों पर लागू होता है, जिनका सामुदायिक जीवन और पर्यावरण के साथ संबंध विशेष प्रकार का होता है।

यहाँ नाजुक मामला यह है कि नैसर्गिक संसाधन किनके हैं? क्या ये स्थानीय समुदाय के हैं, संबंधित राज्य के हैं या फिर पूरी मानवता के साझे संसाधन हैं? अगर हम संसाधनों को संपूर्ण मानवता का समझते हैं तो मानवता में आगामी पीढ़ियाँ भी तो शामिल होंगी। लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं का काम जनसमूह के विभिन्न तबकों की प्रतिस्पर्धात्मक माँगों को पूरा करने के साथ–साथ वर्तमान और भविष्य की दावेदारियों के बीच संतुलन कायम करना भी है।

आओ कुछ करके सीखे

उन चीज़ों की सूची बनाओ जिन्हें हम कूड़ा समझकर फैंकते रहते हैं। जरा सोचिए कि हम कूड़े की बढ़ती मात्रा से होने वाली हानियों को कम करने के लिए इन फैंकी हुई चीज़ों का नव निर्माण या पुनर्प्रयोग कर सकते हैं।

लोकतांत्रिक सहभागिता

आपको कितनी बार कहा गया है कि अपनी भलाई के लिए आपको माता–पिता या शिक्षक की बात मानने जैसी कुछ चीज़ें करनी ही चाहिए और क्या ऐसी बातों पर आपने खुद को यह कहता महसूस किया है कि अगर इसमें भलाई है तो इसका फैसला स्वयं मुझे करने दें?

विकास

वाद-विवाद-संवाद

"नदियाँ समाज की धरोहर हैं सरकार की नहीं। इसलिए नदी के पानी के बारे में कोई भी निर्णय लोगों की अनुमति के बिना नहीं लिया जाना चाहिए।"

लोकतंत्र और तानाशाही के बीच यही अंतर है कि लोकतंत्र में संसाधनों को लेकर विरोध या बेहतर जीवन के बारे में विभिन्न विचारों के द्वंद्व का हल विचार-विमर्श और सभी के अधिकारों के प्रति सम्मान के जरिए होता है। इन्हें ऊपर से थोपा नहीं जा सकता। इस प्रकार अगर बेहतर जीवन हासिल करने में समाज का हर व्यक्ति साझीदार है, तो विकास के लक्ष्य तय करने और उसके कार्यान्वयन के तरीके ढूँढ़ने में भी हरेक व्यक्ति को शामिल करने की ज़रूरत है। दूसरे की बनाई योजना का अनुसरण करने, योजना तैयार करने और भागीदार होने में फर्क है। पहला, अगर दूसरे आपके लिए अच्छी नीयत से भी योजना बनाते हैं, तब भी आपकी विशेष ज़रूरतों से अवगत होने की उनकी गुंजाइश कम ही है। दूसरा, निर्णय-प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी अधिकारसंपन्न भी बनाती है।

लोकतंत्र और विकास, दोनों का सरोकार आम बेहतरी हासिल करना है। सवाल यह है कि सबकी बेहतरी किसमें है इसका निर्धारण कैसे हो? लोकतांत्रिक देशों में निर्णय-प्रक्रिया में हिस्सा लेने के लोगों के अधिकार पर जोर दिया जाता है। भागीदारी सुनिश्चित करने का एक प्रस्तावित रास्ता स्थानीय विकास योजनाओं के बारे में निर्णय स्थानीय निर्णयकारी संस्थाओं को लेने देना है। स्थानीय निकायों के अधिकार और संसाधन बढ़ाने की वकालत इसीलिए की जाती है। इससे दो चीज़ें सुनिश्चित होती हैं। एक तो इसका अर्थ यह हुआ कि लोगों को अत्यधिक प्रभावित करने वाले मसलों पर लोगों से परामर्श किया जाना चाहिए और समुदाय को नुकसान पहुँचा सकने वाली परियोजनाओं को रद्द करना संभव होना चाहिए। दूसरा, योजना बनाने और नीतियों के निर्धारण में संलग्नता से लोगों के लिए अपनी ज़रूरतों के मुताबिक संसाधनों के उपयोग की भी गुंजाइश बनती है। सड़क कहाँ बने, स्थानीय बसों या मेट्रो का मार्ग कौन-सा हो, मैदान या विद्यालय कहाँ पर हो, किसी गाँव को चेक-डैम की ज़रूरत है या इंटरनेट कैफे की, इस तरह के फ़ैसले उन्हीं लोगों द्वारा किए जाने चाहिएँ।

कुछ लोगों ने तर्क दिया है कि विकास का वर्तमान मॉडल 'ऊपर से नीचे' का है और लोगों को विकास का 'पात्र' मानने की ओर लक्षित है। यह मान लेता है कि हमारी समस्याओं का समाधान का सर्वोत्तम तरीका एक और केवल एक ही है। इस प्रक्रिया में लोगों के पीढ़ियों से संग्रहित ज्ञान और अनुभवों की अनदेखी ही हो सकती है। विकास की विकेंद्रीकृत पद्धति परंपरागत और आधुनिक स्रोतों से मिलने वाली तमाम तरह की तकनीकों के रचनात्मक तरीके से इस्तेमाल को संभव बनाती है।

विकास और जीवन शैली

विकास का वैकल्पिक मॉडल विकास की महंगी, पर्यावरण की नुकसान पहुँचाने वाली और प्रौद्योगिकी से संचालित सोच से दूर होने की कोशिश करता है। विकास को देश में मोबाइल

चिंतन-मंथन

यह चित्र नर्मदा घाटी के डोमखेड़ी गाँव के सत्याग्रह का है। सरदार सरोवर बाँध के निर्माण के कारण नर्मदा के पानी ने घाटी में बाढ़ की स्थिति पैदा कर दी। नर्मदा बचाओ आंदोलन के सत्याग्रहियों ने बढ़ते हुए पानी का सामना करने का निश्चय किया। जब पानी खतरनाक तरीके से बढ़ा और कार्यकर्ताओं के कंधों तक पहुँच गया तब सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। इस विवाद के बारे में और अधिक जानकारी एकत्र करो और बड़े बाँधों के गुण-दोषों पर चर्चा कीजिए। क्या सरदार सरोवर बाँध पानी की कमी की समस्या को हल करने का सही तरीका है? क्या कार्यकर्ताओं द्वारा इस सरकारी योजना का विरोध करना न्यायोचित था?

चित्र दीपा जानी एवं हरिकृष्ण से साभार

फोनों की संख्या, अत्याधुनिक हथियारों या कारों के बढ़ते आकार से नहीं बल्कि लोगों के जीवन की उस गुणवत्ता से नापा जाना चाहिए, जो उनकी प्रसन्नता, सुख-शांति और बुनियादी ज़रूरतों के पूरा होने में झलकती है।

एक स्तर पर प्राकृतिक संसाधनों को संरक्षित रखने और उर्जा के फिर से प्राप्त हो सकने वाले स्रोतों का यथासंभव उपयोग करने के प्रयास किए जाने चाहिएँ। वर्षाजल-संचयन, सौर एवं जैव गैस संयंत्र, लघु पनबिजली परियोजना, जैव कचरे से खाद बनाने हेतु कंपोस्ट-गड्ढे बनाना आदि इस दिशा में संभव प्रयासों के कुछ उदाहरण हैं। वैसी गतिविधियों को स्थानीय स्तर पर लागू करना और इसलिए लोगों की अधिक संलग्नता आवश्यक होगी। बड़े सुधार को प्रभावी बनाने के लिए बड़ी परियोजनाएँ ही एकमात्र तरीका नहीं हैं। बड़े बाँधों के विरोधियों ने छोटे बाँधों की वकालत की है, जिनमें बहुत कम निवेश की ज़रूरत होती है और विस्थापन मामूली होता है। ऐसे छोटे बाँध स्थानीय आबादी के लिए अधिक फायदेमंद हो सकते हैं।

विकास

इसी के साथ-साथ हमें अपने जीवन स्तर को बदल कर उन साधनों की आवश्यकताओं को भी कम करने की ज़रूरत है, जिनका नवीकरण नहीं हो सकता। यह एक पेचीदा मसला है, क्योंकि ऐसा लग सकता है, कि लोगों से निम्नतर स्तर का जीवन जीने के लिए कहा जा रहा है। इसे चयन की उनकी आज़ादी में कटौती भी माना जा सकता है, लेकिन जीवन जीने के वैकल्पिक तरीकों की संभावनाओं पर बहस करने का मतलब अच्छे जीवन की

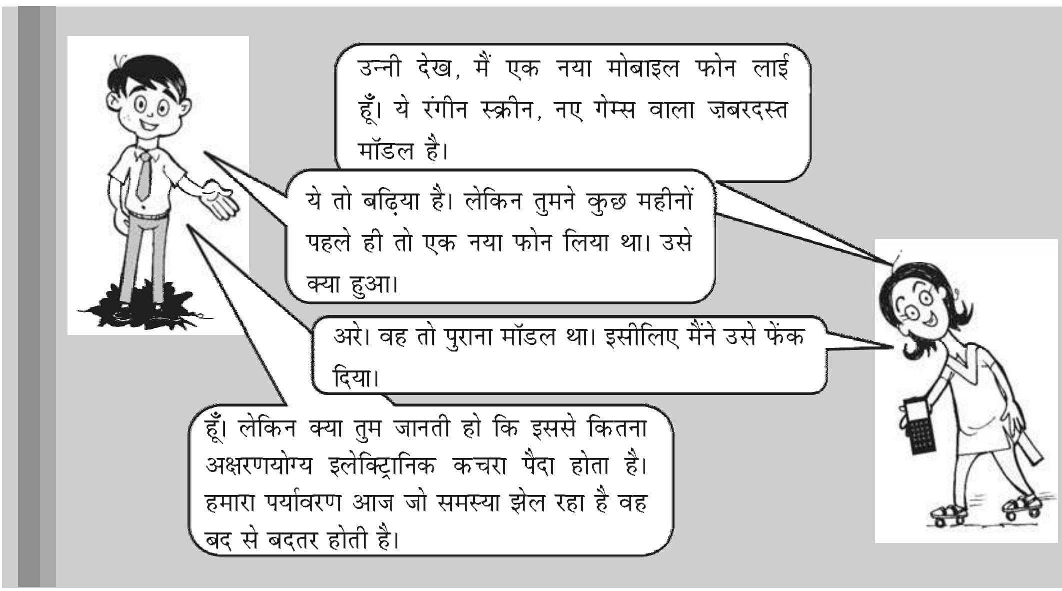

वैकल्पिक दृष्टि को खोलकर स्वतंत्रता और सृजनशीलता की संभावना बढ़ाना भी है। ऐसी किसी नीति के लिए देश भर के लोगों और सरकार के बीच बड़े पैमाने पर सहयोग की ज़रूरत होगी। इसका अर्थ होगा कि ऐसे मामलों पर निर्णय लेने के लिए लोकतांत्रिक तरीका अपनाया जाए। अगर हम विकास को किसी की आज़ादी में बढ़ोतरी की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं और लोगों को निष्क्रिय उपभोक्ता भर नहीं मानकर विकास-लक्ष्यों को तय करने में सक्रिय भागीदार मानते हैं, तो वैसे मसलों पर सहमति तक पहुँचना संभव है। इस प्रक्रिया में अधिकार, स्वतंत्रता और न्याय की हमारी अवधारणाओं का भी विस्तार होगा।

निष्कर्ष

विकास का विचार बेहतर जीवन की कामना से जुड़ा है। यह बहुत ही सशक्त कामना है और बेहतरी की उम्मीद मानवीय कार्यों की संचालक शक्ति है। इस अध्याय में हमने देखा कि समृद्धि पाने के व्यापक रूप से स्वीकृत विचारों की कैसी आलोचनात्मक छानबीन हुई

है। विकास के अधिक न्यायपूर्ण, टिकाऊ और लोकतांत्रिक मॉडल के लिए बहुस्तरीय खोज जारी है। इस प्रक्रिया में राजनीतिक सिद्धांतों की समानता, लोकतंत्र और अधिकार – जैसी संकल्पनाओं की पुनर्व्याख्या हुई है।

विकास के लक्ष्यों का अनुसरण करने के दौरान उठे मसले बताते हैं कि हमारे चयन का बाकी मनुष्यों और दुनिया के अन्य जीवों पर भी प्रभाव पड़ता है। इसलिए हमें अपने को व्यापक ब्रह्मांड का अंग ही समझना चाहिए, क्योंकि हमारी नियति आपस में जुड़ी हुई है। साथ ही, मेरा कार्य दूसरे पर ही नहीं, भविष्य की मेरी संभावनाओं पर भी असर डालता है। इसलिए हमें सतर्कता से चुनाव करना चाहिए। अपनी वर्तमान ज़रूरतों का ही नहीं, दीर्घकालीन हितों का ध्यान भी रखना चाहिए।

विकास

प्रश्नावली

1. आप 'विकास' से क्या समझते हैं? क्या 'विकास' की प्रचलित परिभाषा से समाज के सभी वर्गों को लाभ होता है?
2. जिस तरह का विकास अधिकतर देशों में अपनाया जा रहा है उससे पड़ने वाले सामाजिक और पर्यावरणीय प्रभावों की चर्चा कीजिए।
3. विकास की प्रक्रिया ने किन नए अधिकारों के दावों को जन्म दिया है?
4. विकास के बारे में निर्णय सामान्य हित को बढ़ावा देने के लिए किए जाएँ, यह सुनिश्चित करने में अन्य प्रकार की सरकार की अपेक्षा लोकतांत्रिक व्यवस्था के क्या लाभ हैं?
5. विकास से होने वाली सामाजिक और पर्यावरणीय क्षति के प्रति सरकार को जवाबदेह बनवाने में लोकप्रिय संघर्ष और आंदोलन कितने सफल रहे हैं?

प्रश्नावली